पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६७

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सर्वं लोगम्मि सारभूयं

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

लेखक
प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṆASĪ-5

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला सं० ६७ सम्पादक प्रो० सागरमल जैन

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

लेखक

प्रो० सागरमल जैन

निदेशक

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ

वाराणसी–५.

पुस्तक—

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

लेखक

प्रो॰ सागरमल जैन

प्रकाशक

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ.

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त)

आई॰ टी॰ आई॰ के समीप, करौंदी

पोस्ट—बी॰ एच॰ यू॰, वाराणसी-५ (उ॰ प्र॰)

पिन कोड २२१००५,

फोन—३११४६२,

संस्करण प्रथम—जनवरी, १९९४

मूल्य—तीस रुपये,

Tattvarthasutra Aura Usaki Parampara

Prof. Sagarmal Jain

Pujya Sohanlal Smarak Parshvanatha Sodhapitha. Varanasi-5.

मुद्रक

महावीर प्रेस

भेलूपुर, वाराणसी

समर्पण

पं० सुखलालजी, पं० बेचरदासजी, पं० नाथूरामजी प्रेमी
प्रो० दलसुखमालवणिया, प्रो० हीरालालजी, प्रो० नथमल टाटियाँ
एवं
प्रो० मधुसूदन ढाकी
के
उस विद्वन्मण्डल को
जिनके तटस्थ चिन्तन
ने
अध्ययन और लेखन
के क्षेत्र में
मेरा मार्गदर्शन किया

—सागरमल जैन

प्रकाशकीय

तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों का सर्वमान्य ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र को जैनों की सभी परम्पराओं द्वारा मान्यता दिये जाने का कारण यह है कि इस ग्रंथ में अत्यन्त संक्षेप में जैन धर्म एवं दर्शन की सभी मूलभूत मान्यताओं को प्रस्तुत कर दिया गया है। इसीलिए यह ग्रन्थ जैनधर्म का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। फिर भी इसके लेखक, लेखन काल, परम्परा आदि को लेकर परस्पर मतभेद है। विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वान इसे अपने-अपने ढंग से निरूपित करते हैं। मात्र यही नहीं, इसे अपने-अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध करने के प्रयत्नों में उन्होंने एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप भी लगाये हैं। फलतः विवाद के मुद्दे बढ़ते ही गये। प्रो० सागरमल जैन जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रंथों के सुधी अध्येता हैं। उन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निष्पक्ष रूप से तत्त्वार्थ-सूत्र के लेखक, रचना काल, लेखक की परम्परा आदि प्रश्नों पर विचार किया है और अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उनके निष्कर्षों से कौन सह-मत होता है या असहमत, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण तो यह है कि उन्होंने अपने इस लेखन में एक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाकर सत्य को प्रस्तुत करने का साहस किया है, यही उनकी इस कृति की विशेषता है। आशा है कि विद्वत् जगत में उनकी इस कृति का स्वागत होगा। हम इस कृति के प्रणयन हेतु प्रो० सागरमल जैन के प्रति आभारी हैं। इसके लिये उनके प्रति मात्र कृतज्ञता ज्ञापित कर देना भी पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही संस्थान के शोधाधिकारी डा० अशोककुमार सिंह एवं श्री असीमकुमार मिश्र के भी हम आभारी हैं जिन्होंने प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में उन्हें सहयोग प्रदान किया है। इसके सत्वर एवं सुन्दर मुद्रण के लिए हम महावीर प्रेस को भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन,
मन्त्री
'पार्श्वनाथ शोधपीठ, फरीदाबाद'

लेखकीय

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का एक ऐसा ग्रंथ है जिसे उसके सभी सम्प्रदायों में मान्यता प्राप्त है। इससे यह भी फलित होता है कि यह साम्प्रदायिक विघटन एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व की रचना है। फिर भी साम्प्रदायिक आग्रहों के कारण प्रत्येक परम्परा के विद्वान इसे अपनी ही परम्परा में निर्मित होना बताते हैं। इस सन्दर्भ में विभिन्न परम्परा के विद्वानों एवं मुनियों ने अपने पक्ष के समर्थन में पर्याप्त लेख लिखे हैं। श्वेताम्बर परम्परा में पण्डित सुखलालजी ने अपनी तत्त्वार्थ सूत्र की भूमिका में एवं आचार्य श्री आत्मारामजी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र जैन-आगम समन्वय' नामक ग्रन्थ में पर्याप्त परिश्रम करके तत्त्वार्थ सूत्र को श्वेताम्बर मान्य आगमों से तुलना करके उसको श्वेताम्बर परम्परा में निर्मित होना बताया है। इसी सन्दर्भ में आचार्य श्री सागरानन्दसूरिजी ने 'श्री तत्त्वार्थसूत्र कर्तृतन्मत निर्णय' में तो अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के हैं। साथ ही उन्होंने यह भी दिखाया है कि दिगम्बर परम्परा के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र का जो पाठ निर्धारित किया गया है उसमें और श्वेताम्बर मान्यपाठ में कौन सा पाठ युक्तिसंगत है।

इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में पं० परमानन्दजी शास्त्री ने 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज' नामक लेख में, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने विविध लेखों के द्वारा अपने ग्रन्थ 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' में, पं० फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री ने अपनी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में, पं० कैलाशचंदजी ने 'जैनसाहित्य के इतिहास, भाग–२' में तथा पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने अपने कुछ निबन्धों के माध्यम से जो कि 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' में संकलित हैं, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है और उसका आधार षट्खण्डागम और कुन्द-कुन्द के ग्रंथ हैं। संक्षेप में इन विद्वानों की मान्यताएँ निम्न हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छाचार्य की कृति है, जो कि दिगम्बर परम्परा में हुए हैं।

(२) उमास्वाति यह नाम तत्त्वार्थ-भाष्य के कर्त्ता का है, जो श्वेताम्बर परम्परा में हुए हैं और तत्त्वार्थ के कर्त्ता से पर्याप्त परवर्ती है।

(३) तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ ही वास्तविक पाठ है और श्वेताम्बरों ने उसी के आधार पर अपना पाठ और भाष्य निर्मित किया है।

(४) प्रशमरति तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता की कृति नहीं है, दूसरे शब्दों में इन दोनों के कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं।

(५) तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है।

(६) तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में अनेक ऐसे तथ्य हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा के विरोध में जाते हैं। अतः उनके कर्त्ता श्वेताम्बर नहीं हो सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के विद्वान तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता को अपनी परम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। दोनों ही परम्पराओं में हुए इन प्रयत्नों से इस दिशा में पर्याप्त उहापोह तो हुआ लेकिन अपनी-अपनी आग्रहपूर्ण दृष्टियों के कारण किसी ने भी सत्य को देखने का प्रयास नहीं किया। इसी क्रम में पं० नाथूरामजी प्रेमी जैसे कुछ तटस्थ विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ का श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं से आंशिक विरोध तथा पुण्यप्रकृति के प्रसंग में उसकी यापनीय परम्परा के षट्-खण्डागम से निकटता को देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता उमास्वाति मूलतः यापनीय परम्परा के थे। आदरणीय नाथूरामजी प्रेमी के तटस्थ चिन्तन से प्रभावित होकर प्रारम्भ में पं० सुखलालजी एवं पं० दलसुख भाई ने भी इस संभावना को स्वीकार किया था कि तत्त्वार्थसूत्र सम्भवतः यापनीय परम्परा का हो, किन्तु बाद में उन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र और जैनागम समन्वय' नामक ग्रंथ देखने के पश्चात् अपना निर्णय बदला और पुनः यह माना कि तत्त्वार्थसूत्र मूलतः श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ है। पं० नाथूरामजी प्रेमी के मत का समर्थन करते हुए 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रंथ में श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी तत्त्वार्थसूत्र की गणना यापनीय साहित्य में की है।

मैं जब यापनीय सम्प्रदाय पर अपने ग्रन्थ का लेखन कर रहा था तब संयोग से मुझे दोनों ही परम्पराओं के विद्वानों के विचारों को अध्ययन करने का अवसर मिला साथ ही आदरणीय पं० नाथूराम जी और डॉ० कुसुम पटोरिया के दृष्टिकोण का भी परिचय मिला। मुझे यह प्रतीत हुआ कि तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सन्दर्भ में अभी तक जो चिन्तन हुआ है वह कहीं न कहीं साम्प्रदायिक आग्रहों के घेरे में खडा है। सभी विद्वान किसी न किसी रूप में उसे सम्प्रदाय के चश्मे से देखने का प्रयत्न करते रहे! सभी विद्वान लगभग यह मानकर चल रहे थे, कि 'श्वेताम्बर' 'दिगम्बर' और 'यापनीय' सम्प्रदाय पहले अस्तित्व में आये और तत्त्वार्थसूत्र इनके

बाद निर्मित हुआ है। दुर्भाग्य से किसी ने भी साम्प्रदायिक विभेद और मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र को रखकर उसकी परम्परा को देखने का प्रयत्न नहीं किया। यही कारण रहा कि उसको किसी परम्परा-विशेष के साथ जोड़ने में विद्वानों ने सम्यक् तर्कों के स्थान पर कुतर्कों का ही अधिक सहारा लिया और यह प्रयत्न किया गया कि येन-केन प्रकारेण उसे अपनी परम्परा का सिद्ध किया जाय। यद्यपि पं० नाथूरामजी प्रेमी और पं० सुखलालजी ने इस दिशा में थोड़ी तटस्थता का परिचय दिया और इस सत्यता को स्वीकार किया कि तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ में कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो यह बताते हैं कि उसका श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं की स्थिर मान्यताओं से विरोध है। इसी कारण सम्भवतः पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इस ओर झुकने का प्रयत्न किया कि यह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। उनके इस तर्क में कुछ बल भी है क्योंकि जहाँ तत्त्वार्थसूत्र की कुछ मान्यताएँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के विरोध में जाती हैं, वहीं पुण्यप्रकृति की चर्चा के प्रसंग में वह यापनीयों के अधिक निकट भी है। फिर भी जब तक हम यह सुनिश्चित नहीं कर लें कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना और यापनीय की उत्पत्ति में कौन पूर्ववर्ती है, तब तक हमें यह कहने का अधिकार नहीं मिल जाता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनोय ग्रंथ है।

प्रस्तुत कृति में मैंने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा के प्रश्न को लेकर सभी परम्परागत विद्वानों की मान्यताओं की समोक्षा की है और यह देखने का प्रयत्न किया है कि यथार्थ स्थिति क्या है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तत्त्वार्थसूत्र उस काल की रचना है जब जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आये थे। हाँ इतना अवश्य था कि आचार्यों में आचार एवं दर्शन के सम्बन्ध में कुछ-कुछ मान्यता भेद थे—जैसे कि आज भी एक ही सम्प्रदाय में देखे जाते हैं, वस्तुतः तत्त्वार्थ की रचना उत्तर-भारत की उस निर्ग्रन्थ धारा में हुई, जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्पराओं का विकास हुआ है।

अपने इस अध्ययन में मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ वे निम्न हैं—

(१) तत्त्वार्थ की रचना उत्तर-भारत के निर्ग्रन्थ संघ में श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों के अस्तित्व में आने से पूर्व हुई है।

(२) तत्त्वार्थ-सूत्र की रचना के समय न तो सम्प्रदाय ही अस्तित्व में आये थे और न सम्प्रदायगत मान्यताओं का स्थिरीकरण हुआ था, किन्तु

उत्तर भारत के निर्ग्रन्थसंघ में सिद्धान्तों और आचार के प्रश्नों पर आचार्यों में परस्पर मतभेद उभरकर सामने आ गये थे।

(३) उस काल में उत्तर भारत में यद्यपि मुनियों में वस्त्र एवं पात्र ग्रहण करने की प्रवृत्ति विकसित हो गई थी, किन्तु आपवादिक स्थिति को छोड़कर मुनि प्रायः नग्न ही रहते थे। वस्त्र, कम्बल आदि का उपयोग मात्र लज्जा या शीतनिवारण के लिये ही किया जाता है।

(४) जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र के मूल पाठ का प्रश्न है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भाष्य-मान्य पाठ ही मूल पाठ है। किन्तु मेरी यह भी स्पष्ट मान्यता है कि सर्वार्थसिद्धि मान्यपाठ भी दिगम्बर आचार्यों द्वारा संशोधित नहीं है। वह पाठ उन्हें यापनीय आचार्यों से प्राप्त हुआ था। अतः तत्त्वार्थसूत्र के पाठ संशोधन का कार्य यापनीय परम्परा में किया गया।

(५) भाष्य की स्वोपज्ञता पर किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

(६) जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का प्रश्न है वे, उत्तर भारत के निर्ग्रन्थसंघ के कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं उनका वास्तविक नाम वाचक उमास्वाति ही है, उनका गृद्धपिच्छ विशेषण परवर्ती है, वह लगभग ९-१०वीं शती में अस्तित्व में आया है।

उनका जन्म स्थल सतना (म० प्र०) के निकट स्थित वर्त्तमान नागौद नामक ग्राम ही है और वे जिस उच्चैर्नागर शाखा में दीक्षित हुए, वह भी सतना के ही समीप उँचेहरा (उच्च-नगर) नामक नगर से प्रारम्भ हुई थी।

(७) जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल का प्रश्न है वह विक्रम की तृतीय सदी के उत्तरार्द्ध से चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच कभी निर्मित हुआ है।

प्रस्तुत कृति के प्रणयन में पं० सुखलाल जी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पं० परमानन्द जी शास्त्री, पं० जुगुल किशोर जी मुख्तार, पं० कैलाशचंद जी, पं० फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री, डा० दरबारीलाल जी कोठिया, डा० कुसुम पटौरिया आदि विद्वानों के चिन्तन एवं लेखन से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। अतः इन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। मैंने न केवल उनके तत्त्वार्थ सम्बन्धी लेखों से लाभ उठाया है अपितु उनके विचारों की समीक्षा करने के लिए आवश्यक होने पर उनकी कृतियों के दो-दो, तीन-तीन पृष्ठ यथावत् उद्धृत भी किये हैं, जिनका मैंने

यथास्थान उल्लेख किया है। वस्तुतः इन सभी के चिन्तन की भूमिका पर ही मैं इस दिशा में आगे बढ़ सका हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में मैंने साम्प्रदायिक आग्रहों से ऊपर उठकर यथासंभव तटस्थ दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न किया है और अपनी लेखनी को संयत रखा है, किन्तु कहीं-कहीं आग्रह पूर्ण तर्कों की समीक्षा में मुझे कठोर होना पड़ा है। किंतु उसके पीछे मेरी कहीं कोई दुर्भावना नहीं है और न उनकी अवमानना करने का भाव है, फिर भी मेरे इस लेखन से कहीं भी किसी के मन में ठेस लगी हो तो मैं उनके प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरा इतना आग्रह अवश्य है कि यदि हमें जैन परम्परा के इतिहास को सम्यक् रूप से समझना है, तो हमें अपने-अपने सम्प्रदायों के चश्मे को उतार कर एक ओर रखना होगा। इस लेखन के प्रसंग में पं० दलसुख भाई मालवणिया एवं प्रो० मधुसूदन ढ़ाकी के मार्गदर्शन का लाभ मुझे प्राप्त हुआ है, पं० दलसुख भाई मालवणिया ने तो इसके प्रारम्भ के लगभग ५० पृष्ठों को ध्यान पूर्वक सुना भी है। अतः इन दोनों विद्वानों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कृति के प्रणयन में पार्श्वनाथ शोधपीठ के मेरे सभी सहकर्मियों विशेष रूप से डा० अशोककुमार सिंह, डा० इन्द्रेशचंद्र सिंह, श्री असीमकुमार मिश्र एवं पुस्तकालय सहायक श्री ओमप्रकाश का सहयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मिला है, अतः इनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार पार्श्वनाथ शोधपीठ के संचालक मण्डल का भी आभारी हूँ, जिनके कारण पार्श्वनाथ शोधपीठ के नीरव वातावरण में मुझे ज्ञानार्जन एवं लेखन का अवसर सहज ही उपलब्ध है। मेरी यह कृति मूलतः 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक बृहत् कृति का ही एक अंश है। किन्तु विषय के महत्त्व तथा कृति के आकार को देखते हुए इसे एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया गया है।

अन्त में मैं यह कहना चाहूँगा कि तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सम्बन्ध में इस कृति में मैंने जो भी विचार रखे है, उनकी निष्पक्ष समीक्षा मेरे लिये सदैव ही स्वागत योग्य रहेगी।

पार्श्वनाथ जन्म दिवस
पौष कृष्णा दशमी, सं० २०५०
दिनांक ६ जनवरी १९९४

प्रो० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी

विषयसूची

●

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म और दर्शन का संस्कृत भाषा में सूत्र शैली में निबद्ध प्राचीनतम और सम्भवतः प्रथम ग्रन्थ है। जब विभिन्न दर्शनों में, अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए संक्षिप्त सूत्र शैली के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे जाने लगे, तो उसी क्रम में जैन परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई। यह ग्रन्थ सांख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि की शैली में ही लिखा गया है। और उनसे प्रभावित तथा उनका समकालीन या किञ्चित् परवर्ती है यह ग्रन्थ १० अध्यायों में विभक्त है। इसका प्रारम्भिक सूत्र मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करता है। इसके प्रथम अध्याय में पंचज्ञानों, चारनिक्षेपों और सप्त नयों का विवेचन है, द्वितीय अध्याय में जीव का तथा तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः नरक और स्वर्ग का विवेचन है। पंचम अध्याय में षट्द्रव्यों का और विशेष रूप से पुद्गल का विवेचन है। षष्ठम एवं सप्तम अध्यायों में क्रमशः आश्रव एवं संवर की चर्चा है, जिसका मुख्य सम्बन्ध सदाचार और दुराचार से है। अष्टम अध्याय बन्ध की चर्चा के प्रसंग में जैन कर्म सिद्धान्त का और नवम अध्याय निर्जरा के रूप में तप, ध्यान आदि का विवेचन करता है। अन्त में दसवें अध्याय में मोक्ष की चर्चा है। इसका रचनाकाल लगभग ईसा की तीसरी शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय मान्य करते हैं, यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य सूत्र-पाठ में क्वचित् अन्तर है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के विद्वानों ने इसे अपनी-अपनी परम्परा में रचित सिद्ध करने हेतु अनेक लेखादि लिखे हैं। मैंने उन सभी लेखों को, जिन्हें दोनों परम्पराओं के परम्परागत विद्वानों एवं कुछ तटस्थ विदेशी विद्वानों ने लिखा, देखने का प्रयास किया और उन सबको देखने के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि तत्त्वार्थसूत्र उस युग की रचना है, जब जैन परम्परा में अनेक प्रश्नों पर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मतभेद उभरकर सामने आने लगे थे और जैन संघ विभिन्न गण, कुल और शाखाओं में विभक्त हो गया। किन्तु इन मतभेदों एवं गणभेदों के होते हुए भी तब तक जैन संघ श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे विभागों में विभाजित नहीं हुआ था। मेरी दृष्टि में तत्त्वार्थ-

सूत्र की रचना उत्तर भारत की उस निर्ग्रन्थ परम्परा में हुई, जो उसकी रचना के पश्चात् एक-दो शताब्दियों में ही सचेल-अचेल ऐसे दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त हो गई जो क्रमशः श्वेताम्बर और यापनीय (बोटिक) के नाम से जानी जाने लगी। जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उन्हें यह ग्रन्थ उत्तर भारत की अचेल परम्परा, जिसे यापनीय कहा जाता है, से ही प्राप्त हुआ। जहाँ तक इस ग्रन्थ के आधारभूत साहित्य का प्रश्न है, इसका आधार न तो षट्खण्डागम और कसाय-पाहुड़ आदि यापनीय ग्रन्थ है और न ही कुन्द-कुन्द के दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य वलभी वाचना के जो आगम वर्तमान में प्रचलित हैं वे भी इसका आधार नहीं माने जा सकते क्योंकि यह वाचना उमास्वाति के पश्चात् लगभग ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में हुई है। आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में हुई माथुरी वाचना के आगम इसका आधार है ऐसा भी निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक तो यह वाचना भी उमास्वाति के किञ्चित् पश्चात् ईसा की चौथी शतीमें ही हुई है। दूसरे इसके आगम आज उपलब्ध नहीं है। संभावना यही है कि इस ग्रन्थ की रचना के आधार उच्चैर्नागर शाखा में प्रचलित फल्गुमित्र के काल के आगम ग्रन्थ रहे हो। यद्यपि इतना निश्चित है कि ये आगम वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों से बहुत भिन्न नहीं थे। फिर भी क्वचित् पाठ भेदों का होना असम्भव नहीं है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों पर थोड़ी गहराई से चर्चा करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता की वास्तविक परम्परा क्या है ?

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता—तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्य के कर्ता के रूप में उमास्वाति का नाम सामान्य रूप से सर्वमान्य है किन्तु पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री ने उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति के स्थान पर गृद्धपिच्छाचार्य को स्वीकार किया है। वे इस बात पर भी बल देते हैं कि दिगम्बर परम्परा में जो तत्त्वार्थ के कर्त्ता के रूप में उमास्वाति का उल्लेख मिलता है वह परवर्ती है। उनके शब्दों में वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम की रचना की थी किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्र का न होकर तत्त्वार्थ के भाष्य का है[1]। पं० फूलचन्द जी ने इस सम्बन्ध में तीन प्रमाण प्रस्तुत किये है। प्रथम प्रमाण यह है कि षट्खण्डागम की धवल

---

१. सर्वार्थसिद्धि पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री—भारतीय ज्ञानपीठ-काशी, प्रस्तावना पृ० ६४

टीका में वीरसेन (९ वीं शती उत्तरार्ध) ने जीवस्थान के काल अनुयोग द्वार में तत्त्वार्थसूत्रकार के नाम के उल्लेखपूर्वक तत्त्वार्थसूत्र का एक सूत्र उद्धृत किया है—"तहगिद्धपिंछाइरियाप्पयासिद तच्चत्थसुत्तेवि वर्तना-परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" (धवलाटीका समन्वित षट्-खण्डागम सं० हीरालाल); दूसरे विद्यानन्द (९ वीं शती उत्तरार्ध) ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में "एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागरप्रेस पृ० ६) के रूप में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को गृद्धपिच्छाचार्य माना है। तीसरे वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरितमें 'गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि' कहकर गृद्धपिच्छाचार्य का उल्लेख किया है। इनमें दो प्रमाण नवीं शती के उत्तरार्ध एवं एक प्रमाण ग्यारहवीं शती का है। जबकि तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति के नाम के जो उल्लेख मिलते हैं वे सब विक्रम की १३ वीं शताब्दी पूर्व के नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि ११ वीं शताब्दी तक जैन परम्परा में तत्त्वार्थ के कर्ता गृध्रपिच्छ थे ऐसी मान्यता थी।" पुनः पं० फूलचन्दजी की दृष्टि में तत्त्वार्थसूत्र मूल के रचनाकार गृध्रपिच्छ और तत्त्वार्थभाष्य के रचनाकार उमास्वाति हैं। इन दोनों नामों के घालमेल से तत्त्वार्थ के कर्ता गृध्रपिच्छ उमास्वाति है ऐसी धारणा बनी। किन्तु दिगम्बर परम्परा के ही शिलालेखों में गृध्रपिच्छ को उमास्वाति का विशेषण माना गया है शिलालेख क्र० १०८ और १५५ से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[1] गृध्रपिच्छ कभी भी किसी आचार्य का नाम नहीं हो सकता है वह तो विशेषण ही रहेगा। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमा-स्वाति ही है और गृध्रपिच्छ उनका विशेषण है—इस बात को दिगम्बर

---

१. (अ) अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तर गृध्रपिच्छम् ॥
(ब) श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥
तस्यैव शिष्योऽजनि गृध्रपिच्छ द्वितीय संज्ञस्य बलाकपिच्छः।
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यंगनामोहनमण्डनानि ॥
—सर्वार्थसिद्धिः भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रस्तावना पृ० ६३।

विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार भी स्वीकार करते है[१] इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में सुप्रचलित निम्न श्लोक भी उद्धत करते हैं—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वाति मुनीश्वरम् ॥

दिगम्बर परम्परा के ही दूसरे तटस्थविद्वान पं० नाथुरामजी प्रेमी भी तत्त्वार्थभाष्य को स्वोपज्ञमानकर उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति को ही स्वीकार करते है। पं० फूलचन्दजी केवल इसी भय से कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति को स्वीकार करने पर कहीं भाष्य को स्वोपज्ञ नहीं मानना पड़े, उसके कर्ता के रूप में गृध्रपिच्छाचार्य का उल्लेख करते है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता गृध्रपिच्छ है, यह उल्लेख भी तो ९ वीं शती के उत्तरार्ध के हैं। यह ठीक है कि प्राचीन काल में ग्रन्थकर्ता मूलग्रन्थ में अपने को कर्ता के रूप में उल्लेखित न करके जिनवाणी के प्रति अपना विनय प्रदर्शित करते रहे हों। किन्तु पूज्यपाद देवनन्दी और भट्ट अकलंक जो तत्त्वार्थ के टीकाकार है—उनको कर्ता का उल्लेख करने में क्या आपत्ति थी? पुनः उस काल तक ग्रन्थ के आदि में पूर्वज आचार्यों का स्मरण करने की परम्परा भी प्रचलित हो गई थी। फिर दिगम्बर परम्परा की प्राचीन टीकाओं में उनके नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका एक मात्र कारण यही है कि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं मानते थे। यही स्थिति विमलसूरि के सम्बन्ध में भी रही, पद्मचरित और पउमचरिउ में उनके ग्रन्थ 'पउमचरियं' का अनुसरण करके भी दिगम्बर एवं यापनीय आचार्यों ने उनके नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। मात्र सिद्धसेन ही इसके अपवाद हैं।

जहाँ दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में ९ वीं शती के उत्तरार्ध से गृध्रपिच्छाचार्य के और १३ वीं शती से गृध्रपिच्छ उमास्वाति ऐसे उल्लेख मिलते हैं, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थभाष्य (३री-४ थी शती) तथा सिद्धसेनगणि (७ वीं शती) और हरिभद्र (८ वीं शती) की प्राचीन टीकाओं में भी उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। मात्र यही नहीं उनके वाचकवंश और उच्चनागरी शाखा का भी उल्लेख है। जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा अपनी मानती रही है।

---

१. देखें—जैनसाहित्य के और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार—पृ० २०२ से १०८ तक

उमास्वाति का गृध्रपिच्छ विशेषण सम्भवतः यापनीय परम्परा से आया होगा। यह सत्य है कि दूसरी-तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत की सवस्त्रपरम्परा में भी पक्षियों के पंखों से निर्मित पिच्छी का प्रचलन था, यह तथ्य मथुरा की आचार्यों एवं मुनियों की सवस्त्र प्रतिमाओं से सिद्ध होता है और सम्भव है कि उमास्वाति गृध्र के पंखो से निर्मित पिच्छी रखते हो और इस कारण उनका एक विशेषण गृध्रपिच्छ बन गया हो। चूँकि श्वेताम्बर परम्परा में उनका वाचक विशेषण प्रचलित रहा, अतः उन्होंने गृध्रपिच्छ विशेषण न अपनाया हो। यदि पं० फूलचन्दजी, उल्लेखों की प्राचीनता के आधार पर उमास्वाति नाम अस्वीकार कर गृध्रपिच्छ नाम अपनाते है, तो फिर उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि गृध्रपिच्छ नाम (वि० ९ वीं शती उतरार्ध) की अपेक्षा भी उमास्वाति नाम का उल्लेख प्राचीन है, क्योंकि यह नाम भाष्य से तो मिलता ही है—भाष्य के काल को वे चाहे कितना ही नीचे लाये, उसे श्लोकवार्तिक और धवला टीका—जिनमें गृध्रपिच्छ नाम आया है, से तो प्राचीन मानना होगा—क्योंकि धवला में तत्त्वार्थभाष्य का स्पष्ट उल्लेख है। पुनः जब विद्यानन्दी अपने ग्रन्थ आप्तपरीक्षा की स्वोपज्ञ वृति में 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वातिप्रभृतिभिः' (श्लोक ११९) कहकर उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता मान रहे है—फिर पं० फूलचन्द जी यह कथन किस आधार पर करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति नहीं किंतु गृध्रपिच्छ है? पुनः गृध्रपिच्छ और उमास्वाति अभिन्न है या भिन्न भिन्न व्यक्ति है, इस प्रश्न पं० सुखलालजी ने अपनी भूमिका (पृ०७८)में विस्तार से चर्चा की है। हम उस सब चर्चा में उतरना नहीं चाहते हैं—इच्छुक व्यक्ति उस भूमिका को देख ले। जहाँ पं० सुखलाल जी उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मान रहे है, वहाँ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार उन्हें अभिन्न मान रहे है। जहाँ उनमें भिन्नता मानकर पं० सुखलालजी यह सिद्ध करने को प्रयत्न कर रहे है कि उमास्वाति श्वेताम्बर है और गृध्रपिच्छ उनका विशेषण नहीं हो सकता है, क्योंकि पिच्छ धारण की परम्परा श्वेताम्बर नहीं है। वही जुगलकिशोरजो मुख्तार उन्हें अभिन्न सिद्धकर यह बताना चाहते हैं कि गृध्रपिच्छ विशेषण से वे दिगम्बर सिद्ध होते हैं, क्योंकि मयूरपिच्छ, गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ धारण की परम्परा दिगम्बर है। इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण भिन्न है, मथुरा की सचेल मुनि-प्रतिमाओं से यह सिद्ध होता कि प्राचीनकाल में पिच्छ धारण की परम्परा सचेलपक्ष में भी रही है। अतः उमास्वाति का गृध्रपिच्छ विशेषण स्वीकार कर लेने पर भी उनको श्वेताम्बर परम्परा को

पूर्वज धारा में होने में कोई बाधा नहीं आती है। इसीलिये उमास्वाति और गृध्रपिच्छ भिन्नता और अभिन्नता के इस विवाद को मैं यहाँ नहीं उठा रहा हूँ। पं० सुखलालजी की भी यह भ्रान्ति हो है वे यह माने बैठे कि गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयुरपिच्छ आदि विशेषणों की सृष्टि दिगम्बर परम्परा में हुई है। प्राचीन सचेल धारा में भी पिच्छोंका ग्रहण होता था। पुनः विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वातिप्रभृतिभिः' ऐसे बहु-वचनात्मक प्रयोग को देखकर उसके अर्थ को अपने-अपने ढंग से तोड़ने-मरोड़ने के जो प्रयत्न पं० फूलचन्द जो आदि दिगम्बर विद्वानों ने किये है वे भी उचित नहीं है। उसका स्पष्ट अर्थ इतना ही है कि 'तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों के रचियता उमास्वाति आदि आचार्य'—यहाँ बहुवचनात्मक प्रयोग से लेखक अन्य ग्रन्थों और अन्य आचार्यों का संग्रह करता है। किन्तु इससे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति है—इस मान्यता में कोई बाधा नहीं आती है। यह एक निश्चित सत्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति है, फिर वे चाहे हम उन्हें गृध्रपिच्छ कहें या उच्चनागर शाखा के वाचक वंश के कहें, दोनों एक ही व्यक्ति के सूचक है। यह मानना कि गृध्रपिच्छ और उमास्वाति अलग-अलग व्यक्ति है—उसी प्रकार भ्रांत है जिस प्रकार यह कहना कि तत्त्वार्थ के कर्ता तो गृध्रपिच्छ है और उमास्वाति मात्र भाष्यकार है। हमारे साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के आधार पर इतिहास को झुठलाने के ये प्रयत्न निश्चय ही दुःखद हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के आधारभूत ग्रंथ—

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों यह मानते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना आगम ग्रन्थों के आधार पर हुई है, किन्तु प्रश्न यह है कि तत्त्वार्थ-सूत्र के लेखक के लिए वे आधारभूत आगम ग्रन्थ कौन से थे? इस सन्दर्भ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार[1], पं० परमानन्दजी शास्त्री[2], पं० कैलाशचन्दजी,[3] डॉ० नेमिचन्दजी[4] एवं पं० फूलचन्दजी[5] ने

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) पृ० १२५।

२. अनेकांत वर्ष ४ किरण १—तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज, पं० परमानन्द शास्त्री।

३. जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पं० कैलाशचन्दजी, चतुर्थ अध्याय।

४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १५९-१६२।

५. देखें—सर्वार्थसिद्धि पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तचार्य प्रस्तावना पृ० १३-१५।

इसकी विस्तार से चर्चा की है। दिगम्बर परम्परा के इन सभी विद्वानों के अनुसार उमास्वाति वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् ही कभी हुए हैं। किन्तु दिगम्बरों के मतानुसार उस काल तक पूर्व एवं अंगधारी आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई थी। उमास्वाति के सामने अंग एवं पूर्वगत आगमिक साहित्य नहीं था। अतः दिगम्बर परम्परा के विद्वानों को यह कल्पना करनी पड़ी कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कसाय-पाहुड, षटखण्डागम, तिलोयपण्णति एवं कुन्दकुन्द के ग्रंथ समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि रहे हैं। किन्तु इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् जो अंग और अंग बाह्य आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं, तत्त्वार्थसूत्र का आधार अंग और अंगबाह्य आगम साहित्य को मानते हैं। स्थानकवासी आचार्य आत्मारामजी ने 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य को बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र की रचना का आगमिक आधार क्या है? इसे आगमों के उद्धरण देकर परिपुष्ट किया है।[1] आधुनिक दिगम्बर विद्वानों ने भी षट्खण्डागम, कसायपाहुड और विशेष रूप से कुन्दकुन्द के ग्रंथों को तत्त्वार्थसूत्रका आधार बताते हुए उनसे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि अभी तक किसी भी दिगम्बर विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय की शैली में तत्त्वार्थसूत्र के सभी सूत्रों का दिगम्बर परम्परा मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों में कहाँ और किस रूप में निर्देश है—इसको स्पष्ट करने वाले किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है। मात्र पं० परमानन्द शास्त्री जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज' नामक लेख में, जो अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ में प्रकाशित है, इस तथ्य का संकेत किया है। दिगम्बर परम्परा के विद्वान् यह भी उल्लेख करते हैं कि श्वेताम्बर आगम साहित्य की रचना तो पाँचवीं शताब्दी के बाद हुई है। तत्त्वार्थसूत्र में तो आगम के उद्धरण हैं ही नहीं, अब रहा तत्त्वार्थभाष्य तो उसके सम्बन्ध में वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह तो उसके भी बाद में ही किसी समय लिखा गया होगा। इस सम्बन्ध में पं० फूलचन्द जी, पं० सुखलाल जी के कथन को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हुए यह कहते हैं कि "तत्त्वार्थभाष्यकार ने तत्त्वार्थ की रचना के आधाररूप जिस अंग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था, वह पूर्णतया स्थविर पक्ष को मान्य था, अतः तत्त्वार्थभाष्य श्वे० मान्य आगमों के बाद अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् कभी

---

१. देखें—तत्त्वार्थसत्र जैनागम समन्वय, उपाध्याय आत्मारामजी।

निर्मित हुआ।[1] दुर्भाग्य यह है कि हमारे दिगम्बर विद्वान् आगमों की अन्तिम वाचना (सम्पादन) और उनके पुस्तकारूढ़ होने अर्थात् ताड़पत्रों पर लिखे जाने के काल को ही आगम का रचना काल मान लेते हैं। यदि उसके पूर्व आगम थे ही नहीं, तो वलभी में संकलन और सम्पादन किसका हुआ होगा ? क्या वलभी में कोई नये आगम ग्रन्थ रचे गये थे ? यदि दिगम्बर परम्पराके विद्वानों के अनुसार तत्त्वार्थ की रचना के समय आगम थे ही नहीं तो फिर दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध तत्त्वार्थसूत्र की उत्थानिका में उमास्वाति ने ऐसा स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया कि वर्तमान में अङ्ग-अनङ्ग श्रुतरूप आगमों का उच्छेद हो गया है और इसलिए जनसाधारण को जैनतत्त्वज्ञान का बोध कराने के लिये मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यदि उमास्वाति ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को ही अपना आधार बनाया तो फिर तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी दिगम्बर टीकाओं की उत्थानिकाओं में कहीं भी कुन्दकुन्द को नामोल्लेख पूर्वक नमस्कार क्यों नहीं किया ? क्यों तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि और अकलंक की राजवार्तिक आदि टीकायें उसके कर्ता के सम्बन्ध में भी कोई निर्देश नहीं करती ? जबकि तत्त्वार्थभाष्य में तो स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि आगम के गम्भीर विषयों का सरलतापूर्वक संक्षेप में बोध कराने के लिए ही मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत हुआ हूँ वे तत्त्वार्थभाष्य में अपने वंशपरिचय के साथ-साथ अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हैं।[2] जबकि तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रस्तावना पृ० ३७।

२. वाचकमुख्यस्य शिव-श्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दि-क्षमाश्रमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्, गुरुक्रमेणागतं समवधार्य।
दुःखार्तं च दुरागम-विहतमतिलोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

दिगम्बर टीकायें इस सम्बन्ध में मौन साधे हुए हैं। इस रहस्य का कारण क्या है ?

क्या उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं—

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने तत्त्वार्थ के आधार के रूप में मुख्यतया षड्खण्डागम, कसायपाहुड एवं कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की चर्चा की है[1], अन्य दिगम्बर विद्वान् भी इसी मत की पुष्टि करते हैं।[2] इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो यह विचार करना होगा कि क्या तत्त्वार्थसूत्र की रचना कसायपाहुड, षट्खण्डागम एवं कुन्दकुन्द के पश्चात् हुई। यह सत्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेक समानतायें परिलक्षित होतीं हैं, किन्तु मात्र इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति ने ही इन्हें कुन्दकुन्द से ग्रहण किया है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि कुन्दकुन्द ने ही उमास्वाति से इन्हें लिया हो। हमें तो यह देखना होगा कि उनमें से कौन पूर्व में हुए और कौन पश्चात्। जहाँ तक दिगम्बर पट्टावलियों का प्रश्न है उनमें से कुछ में उमास्वाति को कुन्दकुन्द का साक्षात् शिष्य और कुछ में परम्परा शिष्य बताया गया है, किन्तु ये सभी पट्टावलियाँ पर्याप्त परवर्ती लगभग १०वीं शती के बाद की हैं अतः प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। स्वयं पं० नाथूराम जी प्रेमी जैसे निष्पक्ष दिगम्बर विद्वानों ने भी उन्हें प्रामाणिक नहीं माना है।[3] मर्कराभिलेख जिसको आधार बनाकर विद्वानों ने कुन्दकुन्द को १-२ शताब्दी के मध्य रखने का प्रयास किया था, अब अप्रमाणिक (जाली) सिद्ध हो चुका है।[4] अब ९वीं शताब्दी से पूर्व का कोई भी ऐसा अभिलेख

यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाधं सौख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

तत्त्वार्थभाष्य पीठिका कारिका २६-३१।

१. देखें—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, नेमीचन्द्र शास्त्री (अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्) भाग २ पृ० १५९-१६२।

२. (अ) जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) पृ० १२५।

(ब) जैन साहित्य का इतिहास भाग २ (पं० कैलाशचन्दजी) पृ० २४९।

३. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५३०-५३१।

४. Aspects of Jainology Vol. III Pt. Dalsukhbai Malvania

नहीं है, जो कुन्दकुन्द या उनकी अन्वय का उल्लेख करता हो । लगभग १०वीं शती तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के निर्देश या उन पर टीका की अनुपस्थिति भी यही सूचित करती है कि कुन्दकुन्द छठी शताब्दी के पूर्व तो किसी भी स्थिति में नहीं हुए हैं, इस तथ्यको प्रो० मधुसूदन ढ़ाकी[१] और मुनि कल्याणविजय जी ने अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित किया है।[२] जबकि उमास्वाति किसी भी स्थिति में तीसरी या चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होते हैं।

वस्तुतः कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के काल का निर्णय करने के लिए कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति के ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों का विकासक्रम देखना पड़ेगा। यह बात सुनिश्चित है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान[३] और सप्तभंगी[४] का स्पष्ट निर्देश है। गुणस्थान का यह सिद्धान्त समवायांग के १४ जीव-समासों के उल्लेखों के अतिरिक्त श्वेताम्बरमान्य आगम साहित्य में सर्वथा अनुपस्थित है, यहाँ भी इसे श्वेताम्बर विद्वानों ने प्रक्षिप्त ही माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में भी इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की सभी दिगम्बर

Felicitiation Vol. I, P. V. Research Institute Varanasi English Section, M. A. Dhaky, The Date of Kundakundacarya p. 190.

१. Ibid. p. 189-190.

२. श्री पट्टावलीपरागसंग्रह, मुनि कल्याणविजय जी, पृ० १००-१०७।

३. (अ) गुणठाण मग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ।
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥
तेरहमे गुणठाणे सजोइ केवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥

—बोधपाहुड ३१-३२

(ब) जीव समासाइं मुणी चउदसगुणठाणामाइं ॥—भावप्राभृत ९७

(स) णेव य जीवठाणा ण गुणठाणा य अत्थि जीवस्स ।—समयसार ५५

(द) णाहं मग्गठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।—नियमसार ७८

४. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥—पंचास्तिकायसार १४

टीकाओं में इन सिद्धान्तों के उल्लेख प्रचुरता से पाये जाते हैं।[1] पूज्यपाद देवनन्दी यद्यपि सप्तभंगी सिद्धान्त की चर्चा नहीं करते परन्तु गुणस्थान की चर्चा तो वे भी कर रहे हैं। दिगम्बर परम्परा में आगमरूप में मान्य षट्खण्डागम तो गुणस्थान की चर्चा पर ही स्थित हैं।[2] उमास्वाति के तत्त्वार्थ में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्ट रूप से यह

---

१. (अ) जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः मिथ्यादृष्टिः, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, असंयत सम्यग्दृष्टिः, संयतासंयत, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, अपूर्वकरणस्थाने उपशमकः क्षपकः, अनिवृत्तिबादरगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः, सूक्ष्मसाम्परायस्थाने उपशमकः क्षपकः, उपशांतकषाय वीतरागछद्मस्थः क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः, सयोगी केवली, अयोगकेवलि चेति।....।१।८

[ज्ञातव्य हैं कि गुणस्थान सम्बन्धी यह सम्पूर्ण विवरण पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में पृ० २९ से पृ० ९२ तक लगभग ६४ पृष्ठों में हुआ है—इसका तात्पर्य है कि पूज्यपाद के समक्ष यह सिद्धान्त पूर्ण विकसित रूप में था]

(ब) (i) प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध्र कल्पना सप्तभंगी १।६।५ तत्त्वार्थवार्तिक।

[अकलंक के तत्त्वार्थवार्तिक में सप्तभंगी का यह विवरण पृ० ३३ से ३५ तक तीन पृष्ठों में उपलब्ध हैं (ज्ञानपीठ संस्करण)]

(ii) अकलंक ने तत्त्वार्थ १।८ में तो गुणस्थान का निर्देश नहीं किया मात्र मार्गणास्थानका निर्देश किया। किन्तु अध्याय के सूत्र ३ एवं अध्याय ९ के सूत्र ७ एवं २६ में गुणस्थान का निर्देश किया है।

....मिथ्यादृष्टयादि चतुर्दशगुणस्थान भेदात् ।५।३

जीवस्थानगुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणा लक्षणो धर्मः स्वाख्यातः।

—९।७।१०

इस प्रकार अकलंक के सम्मुख सप्तभंगी और गुणस्थान उपस्थित थे।

२. एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं....। छक्खण्डागम १।१।५

(विस्तार एवं सभी नामों के लिये देखे—छक्खण्डागम १।१।९-२२) ज्ञातव्य है कि छक्खण्डागम गुणस्थानों के लिये समवायांग के जीवठाण के समान जीवसमास शब्द का प्रयोग करता है, गुणस्थान का नहीं। अतः दोनों के तत्सम्बन्धी विवरण में पर्याप्त समानता है और ये कुन्दकुन्द को अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं)

सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधार रूप गुणस्थान के सिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे ? चाहे विस्तार रूप में चर्चा भले हो नहीं करते परन्तु उनका उल्लेख अवश्य करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र[1] में, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, निर्जरा के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं का चित्रण और इनमें गुणस्थानों के कुछ परिभाषिक नामों की उपस्थिति यही सिद्ध करती है कि उस काल तक गुणस्थान की अवधारणा निर्मित तो नहीं हुई थी, परन्तु अपना स्वरूप अवश्य ग्रहण कर रही थी। तत्त्वार्थसूत्र और गुणस्थान पर श्रमण अप्रैल-जून १९९२ में प्रकाशित मेरा स्वतन्त्र लेख देखे। पं० दलसुखभाई के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित जो दस नाम मिलते हैं, वे बौद्धों की दसभूमियों की अवधारणा पर निर्मित हुए हैं और इन्हीं से आगे गुणस्थान की अवधारणा का विकास हुआ है। यदि उमास्वाति के समक्ष गुणस्थान की अवधारणा होती तो फिर वे आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं की चर्चा न करके १४ गुणस्थानों की चर्चा अवश्य करते। ज्ञातव्य है कि कषायपाहुडसुत्त में भी तत्त्वार्थसूत्र के समान गुणस्थान सिद्धान्त के कुछ परिभाषिक शब्दों की उपस्थिति होते हुए भी सुव्यवस्थित गुणस्थान सिद्धान्त का अभाव देखा जाता है। जबकि कसायपाहुडसुत्त के चूर्णि-सूत्रों में गुणस्थान सिद्धान्त की उपस्थिति देखी जाती है। कषायप्राभृत के कुछ अधिकारों के नाम तत्त्वार्थसूत्र के समान ही

---

१. (अ) सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशामककोपशांतमोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः····।—तत्त्वार्थ ९।४५

[इसी अवधारणा से गुणस्थान की अवधारणा का विकास हुआ है, इसका प्रमाण यह है कि पूज्यपाद गुणस्थान की चर्चा में गुणस्थान के अपने नाम के साथ-साथ उपशामक क्षपक आदि उपर्युक्त नामों का समन्वय करते हैं—देखें सर्वार्थसिद्धि १।८]

ज्ञातव्य है कि कसायपाहुडसुत्त में भी गुणस्थान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्दों के होते हुए भी सम्पूर्ण सिद्धान्त का कहीं निर्देश नहीं है, अतः कसायपाहुडसुत्त और तत्त्वार्थसूत्र की समकालिकता सिद्ध होती है और दोनों स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचनायें हैं।

है—सम्यक्त्व, देशविरति, संयत, उपशामक, क्षपक गाथा (१४) । फिर भी कसायपाहुड का विवरण तत्त्वार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक व्यवस्थित एवं विस्तृत लगता है। ऐसा माना जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र, कसायपाहुड और षट्खण्डागम में गुणस्थान की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है।

जैसाकि हमने निर्देश किया है श्वेताम्बरमान्य समवायांग में १४ जीवठाण के रूप में १४ गुणस्थानों का निर्देश है, किन्तु अनेक आधारों पर यह सिद्ध होता है कि समवायांग में प्रथम शती से पाँचवीं शती के बीच अनेक प्रक्षेप होते रहे हैं। अतः वलभी वाचना के समय ही जीव समास का यह विषय उसमें संकलित किया गया होगा। अन्य प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों जैसे—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती और यहाँ तक कि प्रथम शताब्दी में रचित प्रज्ञापना और जीवाभिगम में भी गुणस्थान का अभाव है। इन आगमों में ऐसे कई प्रसंग थे, जहाँ गुणस्थान की चर्चा की जा सकती थी, किन्तु उसका कहीं भी उल्लेख या नाम निर्देश तक न होना यही सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थसूत्र के काल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में नहीं आयी थीं। चूंकि कुन्दकुन्द[1], षट्खण्डागम[2], भगवती आराधना[3] और मूलाचार[4] आदि सभी इन अवधारणाओं की चर्चा करते हैं, अतः वे तत्त्वार्थ से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाये कि उमास्वाति के समक्ष ये अवधारणाएँ उपस्थित तो थीं, किन्तु उन्होंने अनावश्यक समझकर उनका संग्रह नहीं किया होगा, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि तत्त्वार्थभाष्य के अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र के सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाकार इस सिद्धान्त की चर्चा क्यों करते हैं? यहाँ तक कि तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की चर्चा में न केवल इनका नाम निर्देश करते हैं। अपितु इसकी अति विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। यदि हम पूज्यपाद देवनन्दी का काल पाँचवीं का उत्तरार्ध और छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानते

१. देखे—बोधपाहुड ३१, ३२, भावपाहुड ९७, समयसार ५५, नियमसार ७८

२. देखे—षट्खण्डागम १।१।५ तथा १।१।९-२२

३. भगवती आराधना १०८६-८८

४. मूलाचार, १२ (पर्याप्ति-अधिकार)/१५४-१५५

हैं, तो हमें यह मानना होगा कि इसी काल में यह अवधारणा सुनिर्धारित होकर अपने स्वरूप में आ गई थी। यही काल श्वेताम्बर आगमों की अन्तिम वाचना का काल है। सम्भव यही है कि इसी समय उसे समवायांग में डाला गया होगा। अतः यह सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र का आधार न तो कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं और न षट्खण्डागम ही, क्योंकि ये सभी तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के बाद की रचनाएँ हैं। यद्यपि कसायपाहुड को किसी सीमा तक तत्त्वार्थसूत्र का समसामयिक माना जा सकता है। फिर भी गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यह तत्त्वार्थ से किञ्चित परवर्ती सिद्ध होता है।

यद्यपि इससे हमारे कहने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि वलभी वाचना के वर्तमान में श्वेताम्बरों द्वारा मान्य आगम उनके तत्त्वार्थसूत्र का आधार है, क्योंकि यह वाचना तो उमास्वाति के बाद की है। वस्तुतः स्कंदिल की माथुरी वाचना (वीर निर्वाण ८२७-८४०) के भी पूर्व फल्गुमित्र के समय जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे ही तत्त्वार्थसूत्र की रचना के मुख्य आधार रहे हैं। मेरी दृष्टि में उमास्वाति स्कंदिल से पूर्ववर्ती है अतः उनका आधार फल्गुमित्र के युग के आगम ग्रन्थ ही थे। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों से इनमें बहुत अधिक अन्तर नहीं रहा होगा, फिर भी कुछ पाठ भेद और मान्यता भेद तो अवश्य ही रहे होंगे। दूसरे वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर आगम कोटिक-गण की वज्रीशाखा के हैं जबकि उमास्वाति कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं, इन दोनों शाखाओं में और उनके मान्य आगमों में कुछ मान्यताभेद और कुछ पाठभेद अवश्य ही रहा होगा, यह माना जा सकता है। सम्भवतः उसी उच्चनागरी शाखा में मान्य आगमों को ही उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ की रचना का आधार बनाया होगा, जिसके परिणाम स्वरूप चार-पाँच स्थानों पर तत्त्वार्थसूत्र और उसकी भाष्यगत मान्यताओं में वर्तमान श्वेताम्बर आगमिक परम्परा की मान्यताओं से मतभेद आ गया है, जिसकी चर्चा हमने आगे की है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार वे ही आगम ग्रन्थ रहे हैं, जो क्वचित् पाठभेदों के साथ श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित हैं और यापनीयों में भी प्रचलित थे। इससे इस भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थ है, क्योंकि ये ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती है और गुण-स्थान, सप्तभंगी आदि परवर्ती युग में विकसित अवधारणाओं के उल्लेखों से युक्त है।

तत्त्वार्थसूत्र के मूलपाठ का प्रश्न

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा का निर्धारण करने के लिए तत्त्वार्थसूत्र के प्रचलित पाठों में कौन-सा पाठ मौलिक है, इसका निर्णय करना भी आवश्यक है। वर्तमान में तत्त्वार्थसूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं—(१) भाष्य-मान्य पाठ, जिसे सामान्यतया श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्वीकार किया जाता है और (२) सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ, जिसे दिगम्बर परम्परा में स्वीकार किया गया है। इन दोनों पाठों में से कौन-सा पाठ प्राचीन एवं मौलिक है, यह निर्णय इसलिए भी आवश्यक है कि उसके आधार पर ही तत्त्वार्थ-सूत्र की मौलिक परम्परा का निर्धारण किया जा सकता है। प्रचलित दोनों पाठों में तत्त्वार्थसूत्र का मूल प्राचीन पाठ कौन-सा है ? इस समस्या के समाधान हेतु जापानी विद्वान् सुजिका ओहिरो ने पर्याप्त परिश्रम किया है।[1] किसी परम्परा विशेष से आबद्ध न होने के कारण उनका निर्णय तटस्थ भी माना जा सकता है। डॉ० सुजिका ओहिरो ने इस समस्या के समाधान हेतु तीन दृष्टियों से विचार किया है—

(१) भाषागत परिवर्तन, (१) सूत्रों का विलोपन और (३) सूत्रगत मतभेद।

इस सम्बन्ध में उनके विस्तृत निबन्ध का हिन्दी अनुवाद पं० सुखलाल जी द्वारा विवेचित तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में संकलित किया गया है। यहाँ हम उसी को आधार बनाकर संक्षेप में चर्चा करेंगे—

भाषागत परिवर्तनों के सन्दर्भ में उनका निष्कर्ष यह है कि श्वेताम्बर मान्य पाठ आगमनुसार है, जबकि दिगम्बर मान्य पाठ में व्याकरण को प्रधानता दी गई है। व्याकरण और पदविन्यास की दृष्टि से पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों को निम्न दृष्टि से परिमार्जित किया है—

(अ) एक तरह के भावों का संयुक्तिकरण करने के लिए दो सूत्रों का एक सूत्र में समावेश।

(ब) शब्दक्रम की सम्यक् समायोजना।

(स) अनावश्यक शब्दों को निकालना और स्पष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए कम से कम शब्दों को जोड़ना।

---

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, पं० सुखलाल जी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान वाराणसी, ५, भूमिका भाग-पृ० ८४-१०७

(द) 'इति' शब्द द्वारा सूत्रों को वर्ग में बाँटना।

सुजिको ओहिरो के अनुसार यद्यपि ऐसा करने में तकनीकी दृष्टि से बहुत-सी गलतियाँ हुई हैं, जिससे सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझने में कठिनाई होती है। इसका एक कारण तो यह है कि दक्षिण भारत में जैनाचार्यों के समक्ष उत्तर भारत की आगमिक परम्परा का अभाव था और दूसरा कारण यह है कि सूत्रकार की उस वास्तविक स्थिति को न समझ पाना, जिसमें जैन सिद्धान्त को तथा अन्य दार्शनिक मतों को बराबर ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। यद्यपि वे मानती हैं कि मात्र भाषागत अध्ययन से किसी ऐसे निष्कर्ष पर तो नहीं पहुँच जा सकता, जिससे कहा जा सके कि अमुक परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र मूलरूप में है और अमुक परम्परा में दूसरे से लिया गया है। फिर भी "उपर्युक्त आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर पाठ आगमिक सन्दर्भ की दृष्टि से दिगम्बर पाठ से अधिक संगत है।[1]" सुजिका ओहिरो के साथ-साथ कुछ श्वेताम्बर विद्वानों की भी मान्यता है कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ व्याकरण की दृष्टि से अधिक परिष्कारित है। पूज्यपाद व्याकरण के विद्वान् थे अतः उन्होंने ही भाष्य-मान्य पाठ को व्याकरण की दृष्टि से परिष्कारित किया है और इस आधार पर सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ भाष्यमान्य पाठ की अपेक्षा परवर्ती सिद्ध होता है। मुझे उनके इस तर्क से तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु अनेक कारणों से ऐसा लगता है कि यह पाठ संशोधन का कार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने नहीं किया है, अपितु इन्द्रनन्दी या अन्य किसी यापनीय परम्परा के व्याकरण के विद्वान् ने किया होगा। सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा संशोधित नहीं है, इस हेतु मैंने आगे अलग से तर्क दिये हैं, पाठक उन्हें वहाँ देख ले।

सूत्रों का विलोपन एवं वृद्धि—

डॉ० सुजिको ओहिरो ने सूत्रों के विलोपन के आधार पर यह माना है कि श्वेताम्बर पाठ को दिगम्बर पाठ में साररूप से समाहित किया गया है। ओहिरो के अनुसार सूत्रों के विलोपन एवं वृद्धि के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि दिगम्बर सूत्रों (३/१२-३२) की रचना भाष्य और जम्बूद्वीप-समास के आधार पर की गई है। तार्किक दृष्टि से दिगम्बर विद्वान् यह भी

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग, पृ० ९२

कह सकते हैं कि भाष्य तथा जम्बूद्वीप समास की रचना दिगम्बर मान्य पाठ के आधार पर की गई है। यद्यपि सुजिको ओहिरो का कहना है कि श्वेताम्बर पाठ के १-३ वर्गों के सूत्रों के विलोपन के आधार पर अब तक जो विश्लेषण किया गया है उससे यही प्रमाणित होता है कि श्वेताम्बर पाठ मूल रूप में हैं। सूत्र शैली में यथाक्रम शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'सत् द्रव्य लक्षणम्' नामक सूत्र प्रस्तुत सन्दर्भ में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, वरन् बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्र ५/२९ तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन मूलपाठ का नहीं है। सुजिको ओहिरो के शब्दों में जहाँ तक दोनों आवृत्तियों में सूत्रों के विलोपन का प्रश्न है दिगम्बर परम्परा में मान्य पाठ श्वेताम्बर परम्परा में मान्य पाठ से अधिक संशोधित प्रतीत होता है।[1]

सूत्रगत मतभेद—

डॉ० सुजुको ओहिरो ने तथा अन्य श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों ने भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठों के उन सूत्रगत मतभेदों की विस्तार से चर्चा की है जो या तो आगमिक श्वेताम्बर परम्परा से या दिगम्बर मान्यताओं से संगति नहीं रखते हैं। डॉ० सुजिकोओहिरो ने सूत्रगत ऐसे आठ मतभेदों का संकेत किया है—

१. नय के प्रकार

२. त्रस एवं स्थावर का विभाजन

३. अन्तराल गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है।

४. आहरक शरीर चतुर्दश पूर्वधर को होता है।
आहारक शरीर प्रमत्तसंयत को होता है।

५. ज्योतिष देवों में तेजोलेश्या होती है, भवनपति व व्यन्तरों में कृष्ण से तेजस् तक चार लेश्याएँ होती हैं, इस प्रकार भवनपति, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क इन तीन देवनिकायों में चार लेश्याएँ पायी जाती हैं।

६. बारह कल्प देवलोक है। दिगम्बर परम्परा मान्य पाठ (३/४) में बारह कल्प माने गये हैं, किन्तु ४/१९ में सोलह कल्प गिनाये हैं। तिलोयपण्णत्ति (८/११४) में १२ कल्पों की गणना है।

७. कई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं या काल भी द्रव्य है।

---

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग, पृ० ९७

८. सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद पुण्य प्रकृति है। किन्तु दोनों परम्पराओं में इन्हें पुण्य प्रकृति नहीं कहा गया है।

सुजिको ओहिरो के अनुसार उपर्युक्त आठ मतभेदों में दूसरे, तीसरे और आठवें मतभेद की पुष्टि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आगमिक पद्धति के द्वारा होती है। पहला, चौथा और सातवाँ वास्तव में मतभेद नहीं है। पाँचवा और छठाँ विशेष महत्त्व के नहीं हैं।[1]

इनके अतिरिक्त अन्य दो मतभेद-जो पुद्गल बन्ध के नियम तथा परिषहों के सम्बन्ध में हैं, ओहिरो की दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये मतभेद मूलसूत्रों को लेकर उतने नहीं है, अपितु उनकी व्याख्याओं के सम्बन्ध में है।[2] बन्ध के नियम के सन्दर्भ में डॉ० सुजिको ओहिरो का कहना है कि ये सूत्र श्वेताम्बर परम्परा सम्मत अर्थ के साथ अधिक संगत हैं। दिगम्बर परम्परा सम्मत अर्थ से इनका तालमेल नहीं बैठता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में इस पाठ को षट्खण्डागम के अनुरूप बनाने का प्रयत्न अवश्य किया गया। वे लिखती हैं कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में सूत्र मौलिक नहीं हैं, सूत्र ५/३५ बिना किसी विशेष विचार के अन्य सूत्रों के साथ अपना लिया गया मालूम होता है।[3] इससे श्वेताम्बर पाठ की मौलिकता सिद्ध होती है। इसी सन्दर्भ में परिषहों की चर्चा के प्रसंग में वे लिखती हैं कि "दिगम्बर आचार्यों ने 'एकादश जिने' सूत्र (९/११) को बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लिया परन्तु अपने रूढ़िगत विश्वास के अनुसार टीकाओं में अर्थ सम्बन्धी संशोधन कर डाला। उन्होंने यह संशोधन उपचार की पद्धति से किया ताकि इस सूत्र का मूल अर्थ बिगड़ न जाए, किन्तु इसमें वे असफल रहे हैं।"[4]

इससे यह निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि सूत्र ९/११ (११) मूलरूप में दिगम्बर परम्परा का नहीं है। अन्त में वे लिखती हैं कि "यह

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलाल जी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५, भूमिका भाग पृ० ९८-१००

२. वही पृ० १००-१०१।

३. तत्त्वार्थसूत्र-विवेचक पं० सुखलालजी (पा० वि० शोध संस्थान) भूमिका भाग पृ० १०३।

४. वही, पृ० १०६।

प्रमाणित हो जाता है कि श्वेताम्बरमान्य पाठ मूल है और दिगम्बर परम्परा में मान्य पाठ उससे व्युत्पन्न हुआ है।"[1]

इन सूत्रगत मतभेदों के सन्दर्भ में आगे हमने अलग से भी चर्चा की है और यह पाया है कि भाष्यमान श्वेताम्बर पाठ ही मूल है और वह आगमों के अनुकूल भी है। यद्यपि वर्तमान आगमिक मान्यताओं से कुछ स्थलों पर जो क्वचित मतभेद दृष्टिगत होता है, वह इसलिए है कि एक तो आगमों में अनेक मान्यतायें संकलित हैं और दूसरे उमास्वाति के समक्ष वलभी वाचना के आगम न होकर फल्गुमित्र के काल के उच्चनागरी शाखा के आगम रहे होंगे।

क्या तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य-मान्य पाठ अप्रामाणिक और परवर्ती है—

यह सत्य है कि सिद्धसेन गणि और हरिभद्र सूरि और अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य-मान्य पाठ के आधार पर अपनी टीकाएँ लिखीं और तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रक्षा करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्होंने उनके सूत्र में जो पाठ भेद और अर्थभेद हो गये थे, उनका भी उल्लेख किया है। यह सत्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ के कुछ पाठभेद प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं, फिर भी उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। किन्तु इस आधार पर दिगम्बर परम्परा के विद्वान् यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्ति की कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्य को भली-भाँति समझते थे, तब सूत्रपाठ के विषय में इतना पाठभेद क्यों हुआ? खासकर उस अवस्था में जबकि तत्त्वार्थभाष्य उस स्वीकृत पाठ को सुनिश्चित कर देता है।

सूत्रपाठ में मात्र तीन पाठान्तरों के आधार पर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह कल्पना कर लेते हैं कि सूत्रपाठ और भाष्य मान्य पाठ के बीच पर्याप्त अन्तर है। पं० फूलचन्द जी लिखते हैं कि "हम तो इस समस्त मतभेदों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य-मान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होने के पहले श्वेताम्बर परम्परा-मान्य सूत्रपाठ निश्चित करने के लिए छोटे-बड़े अनेक प्रयत्न हुए हैं, और वे प्रयत्न पीछे तक भी स्वीकृत होते रहे हैं।"[2] यही नहीं इस आधार पर हमारे दिगम्बर विद्वान् यह निष्कर्ष भी निकाल लेते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है और दोनों के

१. वही, पृ० १०७।

२. सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचंद जी, प्रस्तावना पृ० २३।

के बीच समय का एक लम्बा अंतराल है । इस सन्दर्भ में मैं यह बताना आवश्यक समझता हूँ कि वह युग लेखन का युग नहीं था। तत्त्वार्थभाष्य के काल तक जैन परम्परा में पुस्तक लेखन की प्रवृत्ति विकसित नहीं हुई थी। मुनि के लिए ग्रन्थ लेखन और लिखित ग्रन्थों का संग्रह करना प्रायश्चित्त योग्य अपराध माने जाते थे। क्योंकि ताड़पत्रों पर ग्रन्थ लिखने और उनका संग्रह करने दोनों में जीव हिंसा अपरिहार्य थी। जबकि सर्वार्थसिद्धि जिस काल में लिखी गई उस काल में लेखन की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम वो० नि० सं० ९८० अर्थात् विक्रम सं० ५१० या ई० सन् ४५३ में यह सुनिश्चित किया गया कि यदि आगम साहित्य की रक्षा करना है तो उन्हें ताड़पत्रों पर लिखवाना और संग्रहित करना होगा। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ग्रन्थ लेखन की प्रवृत्ति तत्त्वार्थभाष्य की रचना के लगभग दो सौ वर्ष बाद प्रारम्भ हुई। जो ग्रन्थ मुखाग्र परम्परा से २०० वर्षों तक चला हो उसमें पाठ भेद हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी मुनि तत्त्वार्थसूत्र को उसके भाष्य के साथ ही कंठस्थ तो नहीं नहीं करते थे, कुछ मात्र सूत्र को कंठस्थ करते रहे होंगे। अतः सूत्रगत पाठ और भाष्यगत पाठ में क्वचित् अन्तर आ गया हो। २०० वर्ष तक की मौखिक परम्परा में सूत्र और भाष्य के पाठों में कुछ अन्तर आ जाना अस्वाभाविक भी नहीं है।

पुनः हमारे दिगम्बर विद्वान् जितने अधिक जोर-शोर से इस पाठभेद की चर्चा को उछालते है, वैसा भी कुछ नहीं है, एक ही सूत्र में दो सर्व पद होने पर एक का छूट जाना, अस्वाभाविक नहीं है। इसो प्रकार 'नित्याऽवस्थितान्याः रूपानि' को एक सूत्र या दो सूत्र के रूप में स्वीकार करना कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। इन दो-तीन छोटी-छोटो बातों को उछालकर येन केन प्रकारेण भाष्य को सर्वार्थसिद्धि और अकलंक के राजवार्तिक से पीछे ले जाने का प्रयत्न है ताकि यह कहा जा सके कि दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पूज्यपाद और अकलंक ने भाष्य से कुछ नहीं लिया है, बल्कि भाष्यकार ने हो उनसे लिया है।

दिगम्बर परम्परा के निष्पक्ष विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने पं० सुखलालजी के समान ही अनेक तर्क देकर भाष्य का स्वोपज्ञ और तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीनतम टीका मान रहे हैं।[१] दूसरे लोग उसे स्वोपज्ञ मानने

२. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२४-५२९।

से केवल इसीलिए कतरा रहे हैं कि उसमें कुछ ऐसा भी है जो उनकी अपनी परम्परा के विरोध में जाता है। भाष्य में मात्र दो-तीन स्थलों पर वस्त्र, पात्र सम्बन्धी कुछ बातें हैं (देखें—भाष्य ९/५, ९/७, ९/२६), जो उनकी दृष्टि में दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाती है और केवल इसीलिए वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। जबकि सूत्र और भाष्य में कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के भी विरोध में जाते हैं। जिस प्रकार श्वेताम्बर टीकाकार भाष्यकार को अपनी परम्परा का मानते हुए भी उसके मतों को स्वीकार नहीं करते हैं, उसी प्रकार दिगम्बर विद्वान् भी ऐसा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

यदि हम निष्पक्ष हृदय से विचार करें तो हमें यह प्रतीत होता है कि परवर्ती दिगम्बर परम्परा में जैसी कट्टरवादिता रही है, वैसी श्वेताम्बर परम्परा में नहीं रही है। यदि भाष्यगत और सूत्रगत पाठ में दो-तीन स्थलों पर जो थोड़ा सा अन्तर है, वह भाष्य की स्वोपज्ञता का विरोधी माना जा सकता है तो हम पूछना चाहेंगे कि सर्वार्थसिद्धि के दो प्रकाशित संस्करणों में मात्र प्रथम अध्याय में इतने अधिक पाठभेद क्यों और कैसे हो गये हैं? स्वयं पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री ने अपने द्वारा सम्पादित सर्वार्थसिद्धि में मात्र अपनी परम्परा से संगति बिठाने के लिये क्यों अनेक पाठ बिना किसी ठोस आधार पर बदल दिये हैं। इस संबंध में विस्तृत चर्चा आगे की है और उनके ही कथन को पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत किया है। भगवती आराधना के मूलपाठ और उसकी टीका में उल्लेखित मूल पाठ से अन्तर क्यों है? प्राचीन स्तर के ग्रन्थों का साम्प्रदायिकता के चश्में से मूल्यांकन करना भी उचित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य न तो श्वेताम्बर है और न दिगम्बर ही, उसकी स्थिति मथुरा के साधु-साध्वियों के अंकन के समान है, जिन्हें श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं कहा जा सकता है अथवा फिर दोनों ही कहा जा सकता है। वे श्वेताम्बर माने जा सकते हैं क्योंकि उनके पास वस्त्र और पात्र हैं, साथ ही उनके गण, शाखा, कुल आदि श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं। वे दिगम्बर भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे नग्न जिन-प्रतिमा की उपासना कर रहे हैं और स्वयं भी नग्न हैं। वे यापनीय भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि अचेलता को मान्य करके भी अपवाद रूप में वस्त्र और पात्र ग्रहण कर रहे हैं (देखें—परिशिष्ट के चित्र)। तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय के चश्में देखना ही मूर्खता है, क्योंकि वह तो इनके विभाजन के पूर्व का है।

क्या तत्त्वार्थ का सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ स्वयं देवनन्दी के द्वारा संशोधित है? या भाष्यमान पाठ स्वयं उमास्वाति का न होकर किसी अन्य श्वेताम्बर आचार्य द्वारा संशोधित है?

सामान्यतया श्वेताम्बर विद्वानों के द्वारा यह माना जाता है कि पूज्यपाद देवनन्दी ने तत्त्वार्थ के पाठ को अपनी परम्परा के अनुसार संशोधित करके उस पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका लिखी। इसके दूसरी ओर दिगम्बर विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य के कर्ता ने तत्त्वार्थ के पाठ को अपनी परम्परानुसार ढाल करके उस पर भाष्य लिखा। हमारी दृष्टि में ये दोनों ही कथन सही नहीं है। क्योंकि यदि हम यह माने कि पूज्यपाद देवनन्दी दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे और उन्होंने दिगम्बर परम्परानुसार तत्त्वार्थ के पाठ को संशोधित किया था तो यह समझ में नहीं आता कि फिर उन्होंने मूलपाठ में वे सब बातें, जैसे 'एकादश जिने'[1] अथवा 'द्वादशविकल्पाः'[2], जो कि उनकी परम्परा के विपरीत थी, क्यों रहने दी? जब कोई व्यक्ति अपनी परम्परा के अनुसार किसी ग्रन्थ को संशोधित करता है तो ऐसा नहीं होता है कि उसमें कुछ मान्यताओं को संशोधित करे और कुछ को वैसा ही रहने दे। यदि 'एकादशजिने' पाठ, जो स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है और जिसके लिए स्वयं पूज्यपाद 'एकादशजिने न सन्ति वाक्यशेषकल्पनीयः' कहकर 'न सन्ति' का अध्याहार करते हैं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि जब उन्होंने इतने सारे पाठ बदले तो क्यों नहीं यहाँ 'न' शब्द या 'न सन्ति' शब्द मूल पाठ में रख दिया। जब इतने सारे सूत्रों में परिवर्तन कर दिया था तो 'न' को मूल पाठ में जोड़ देने में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती थी? इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि या तो पूज्यपाद ने पाठ को संशोधित ही नहीं किया है और उन्हें यह जिस रूप में उपलब्ध हुआ उसी पर टीका लिखी, या फिर हम यह मानें कि पूज्यपाद देवनन्दी यापनीय परम्परा के थे, उन्हें यह सूत्रपाठ मान्य था और बाद में किसी दिगम्बर आचार्य ने इस सूत्र की उनकी टीका को अपनी परम्परा के अनुरूप बनाने के लिए बदला है। इस प्रकार दो ही विकल्प हमारे सामने हो सकते हैं, प्रथम तो यह कि सूत्रपाठ पूज्यपाद देवनन्दी के द्वारा परिवर्तित नहीं किया

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।११ (श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों पाठों में यही क्रम है।
२. वही, ४।३

गया है और यदि देवनन्दी ने सूत्रपाठ में परिवर्तन किया है तो वे फिर यापनीय थे और उन्हें जिन भगवान् में एकादश परिषह मान्य थे और यहाँ उनकी इस सूत्र की टीका को किसी दिगम्बर आचार्य ने बदला है। इन सबमें भी उचित विकल्प यह मानना है कि पूज्यपाद ने कोई पाठ नहीं बदला है। यापनीयों से जैसा मिला उसपर टीका लिखी।

इस सन्दर्भ में इतना तो निश्चित है कि श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पाठ के साथ स्वतः कोई छेड़-छाड़ नहीं की है, उन्हें मूलपाठ और पाठान्तर जिस रूप में उपलब्ध हुए हैं, उन्हें रखा है। क्योंकि यदि उन्हें भी अपनी परम्परा के अनुसार सूत्रपाठ बदलना होता, तो वे अपनी परम्परा से भिन्न जो मान्यताएँ थीं उन्हें बदल डालते। मुझे तो ऐसा लगता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परा के आचार्यों पर तत्त्वार्थ के मूलपाठों को संशोधित या परिवर्धित करने का जो आरोप लगाया जाता है, वह मिथ्या हैं; क्योंकि इन टीकाकार समर्थ आचार्यों ने यदि पाठ में परिवर्तन किया होता तो यह कभी भी सम्भव नहीं था कि वे उसमें कोई भी पाठ अपनी परम्परा से भिन्न रहने देते। अतः दोनों परम्परा के विद्वानों को एक-दूसरे पर इस तरह के आक्षेप नहीं लगाने चाहिए।

वास्तविकता इससे कुछ भिन्न है, मेरी समझ के अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रकार ने उच्चनागरी शाखा की उस युग की मान्यताओं के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना की और यह भाष्यमान्य मूल पाठ और भाष्य बाद में विकसित होने वाली श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं को उपलब्ध हुआ। यापनीय आचार्यों ने अपनी मान्यताओं के स्थिरीकरण के पश्चात् मूलपाठ को संशोधित किया और उस पर टीका लिखी। क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा के विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हैं कि सर्वार्थसिद्धि और सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्य की टीका लिखे जाने के पूर्व तत्त्वार्थ की कुछ अन्य टीकाएँ अस्तित्व में थीं और संभवतः वे यापनीय परम्परा की थीं।[1] यह भी संभव है कि यापनीय परम्परा में जो तत्त्वार्थ की टीका उपलब्ध थी उसमें भाष्य को भी समाहित कर लिया होगा। यह कहने का आधार यह है कि यापनीय परम्परा ने उत्तराधिकार में उपलब्ध ग्रन्थों एवं आगमों में अपनी परम्परा के अनुरूप भाषिक और सैद्धान्तिक परिवर्तन किये थे। अतः तत्त्वार्थ के मूलपाठ में भी संशोधन उन्हीं के द्वारा किया होगा। यापनीय परम्परा से ही पूज्यपाद देवनन्दी को तत्त्वार्थ उपलब्ध हुआ और उन्होंने

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथुराम प्रेमी; पृ० ५४४-५४५।

उस पर अपनी परम्परा के अनुरूप सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी। इसकी पुष्टि षट्खण्डागम जैसे यापनीय ग्रन्थों की धवला टीका से भी होती है, जिसके मूलपाठ को यथावत् रखते हुए भी दिगम्बर आचार्यों ने अपनी मान्यता के अनुरूप उस पर टीका लिखी है। इसी प्रकार सिद्धसेन गणि ने तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य जैसा और जिस रूप में उन्हें प्राप्त हुआ था, उसे मान्य रखते हुए अपनी टीका लिखी और जहाँ-जहाँ उन्हें आगम और अपनी मान्यताओं से अन्तर परिलक्षित हुआ उसका निर्देश कर दिया। अतः तत्त्वार्थ का भाष्य-मान्य पाठ उसके मूलकर्ता का है और सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ यापनीयों द्वारा संशोधित। इस पाठ को यापनीयों द्वारा संशोधित किये जाने का प्रमाण यह है कि इसमें पुद्गल के बंधकी प्रक्रिया को यापनीय ग्रन्थ षट्खंडा-गम-आगम के अनुरूप बनाया गया है। दिगम्बर आचार्यों के द्वारा उसमें संशोधन नहीं हुआ है अन्यथा उसमें उनकी परम्परा से जो असंगतियाँ हैं, वे नहीं रह सकती थीं। कुछ श्वेताम्बर विद्वानों का कहना है कि पूज्यपाद देवनन्दी व्याकरण के विद्वान् थे और तत्त्वार्थसूत्र का सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक है अतः यह संशोधन उन्हीं ने किया है, किन्तु मेरी दृष्टि से यह भ्रान्त धारणा है। यापनीय परम्परा में भी इन्द्रनन्दी आदि व्याकरण के विद्वान हुए है, अतः सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ इन्द्रनन्दी नामक यापनीय आचार्य द्वारा ही संशोधित है। जिनका उल्लेख गोम्मट्टसार में सांशयिक के रूप में हुआ है।

क्या वाचक उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का है?

मूर्धन्य विद्वान् पं० सुखलालजी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका में, पं० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र एवं उसके स्वोपज्ञ भाष्य की सिद्धसेनगणि की टीका के द्वितीय विभाग के प्रारम्भ की अंग्रेजी भूमिका में, डॉ० सुजिको ओहिरो ने अपने निबन्ध 'तत्त्वार्थसूत्र का मूलपाठ' में इसे श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] स्थानकवासी आचार्य आत्माराम जी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र-

१. देखें—(अ) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी–५ भूमिका भाग पृ० १५–२७।

(ब) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य और सिद्धसेन गणि की टीका सहित), Introduction P. ३६–४०।

(स) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक; पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५, भूमिका भाग पृ० १०५-१०७।

जैन आगम समन्वय' में तत्त्वार्थ के पाठों का आगमिक आधार प्रस्तुत करते हुए इसे श्वेताम्बर परम्परा की ही कृति माना है।[1] श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के सागरानन्द सूरीश्वर जी ने तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता श्वेताम्बर हैं और सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ संशोधित है, यह सिद्ध करने के लिए ९६ पृष्ठों की एक पुस्तक ही लिख डाली है।[2] यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों का यह आग्रह उचित नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके लेखक उस मूल धारा के है, जिससे इन विभिन्न परम्पराओं का विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा की कृति है, इसे सिद्ध करने के लिए पं० सुखलाल जी आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने जो तर्क दिए हैं उन्हें संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. तत्त्वार्थसूत्र के मूल पाठों की रचना श्वेताम्बर मान्य आगमों के आधार पर हुई है, अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ है। तत्त्वार्थ के मूलपाठ श्वेताम्बरमान्य आगम साहित्य के कितने निकट है, इसे आचार्य आत्मारामजीकृत 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है।[3] इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता श्वेताम्बर आगमिक परम्परा के हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ में गति की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है वह प्राचीन जैन आगम आचारांग, उत्तराध्ययन, जीवाभिगम आदि के अनुकूल है।[4] अतः भाष्यमान्य पाठ प्राचीन भी है और आगमों से प्रमाणित भी होता है। इस आधार पर भी उसे श्वेताम्बर आगमिक परम्परा का माना जा सकता है।

३. भाष्यमान्य पाठ में 'कालश्चेके' जो सूत्र मिलता है वह भी प्राचीन आगमिक परम्परा का अनुसरण करता है क्योंकि श्वेताम्बर मान्य आगमों

---

१. तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, उपध्याय आत्माराम जी, प्रस्तावना सम्मति पत्र, पं० हंसराज जी पृ० ३।

२. श्री तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय, सागरानन्दसूरीश्वर, ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम—सम्पूर्णग्रन्थ पठनीय है।

३. देखें-तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, इसमें तत्त्वार्थ के सूत्रों के नीचे ससंदर्भ आगमिक पाठ दिय गये हैं।

४. देखें—श्रमण, अप्रैल-जून १९९३ प्राचीन जैन साहित्य में 'त्रस-स्थावर वर्गीकरण', लेखक—डॉ० सागरमल जैन।

में काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं, इस सम्बन्ध में दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। इस सूत्र के आधार पर यह सिद्ध होता है कि यह उस परम्परा का ग्रन्थ है जिसमें काल के द्रव्यत्व के सम्बन्ध में वैकल्पिक मान्यताएँ थीं।[1]

४. तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य दोनों पाठों में उपस्थित 'एकादशजिने' (९।११) सूत्र स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध जाता है, क्योंकि वे 'जिन' में कवलहार नहीं मानने के कारण क्षुधा-परिषह आदि परिषहों को स्वीकार नहीं करते, किन्तु सूत्र में स्पष्ट रूप से 'जिन' को भी ग्यारह परिषह बताये गये हैं। यह बात भी उसे श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करती है, क्योंकि श्वेताम्बर एवं यापनीय केवली के कवलाहार को स्वीकार करके उसमें क्षुधादि परिषहों का सद्भाव मानते हैं।

५. श्वेताम्बर विद्वान् तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन्हें श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करते हैं। क्योंकि तत्त्वार्थभाष्य (९।५, ९।७, ९।२६) और प्रशमरति में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं, जो उनके श्वेताम्बर परंपरा से सम्बद्ध होने के प्रमाण हैं।

यदि हम भाष्य और प्रशमरति को तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति की कृति मानते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि तत्त्वार्थ सूत्र मूलतः वस्त्र-पात्र समर्थक श्वेताम्बर परंपरा का ग्रन्थ है।

पं० सुखलाल जी के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र, उसका भाष्य तथा प्रशमरति (१३८) एक ही कृतक हैं—इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

(i) भाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें भाष्य की स्वोपज्ञता के सूचक अनेक उल्लेख मिलते हैं। (इस हेतु देखें–तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-सभाष्यटीका प्रथम भाग पृ० ७२, २०५, द्वितीय भाग पृ० २२०, सम्पादक—हीरालाल कापडिया)।

(ii) याकिनी सुनु हरिभद्र (ईसा की आठवीं शती) ने भी शास्त्रवार्ता-समुच्चय में भाष्य की अन्तिम कारिकाओं में से आठवीं कारिका को उमास्वाति कृतक रूप में उद्धृत किया है।

(iii) आचार्यदेवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को एक ही कृतक मानते हैं।

(iv) भाष्य की प्रारम्भिक कारिकाओं (१।२२) में और कुछ अन्य स्थलों पर भाष्य में वक्ष्यामि, वक्ष्यामः (५।२२, ५।३७, ५।४०, ५४२) आदि प्रथम पुरुष के निर्देश हैं और इन निर्देशों के बाद ही सूत्र का कथन किया

गया है, इससे भी भाष्य की स्वोपज्ञता सिद्ध होती है।[1] इस प्रकार तत्त्वार्थ के कुछ मूलसूत्रों के पूर्व में भाष्य में वक्ष्यामि शब्द के प्रयोग से भाष्य की स्वोपज्ञता में सन्देह करने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है।

पं० सुखलालजी के शब्दों में भाष्य को प्रारम्भ से अन्त तक देखे जाने पर एक बात जँचती है कि 'कहीं सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींच-तान नहीं हुई है, कहीं सूत्र का अर्थ करने में संदेह या विकल्प भी नहीं लिया गया है। न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।[2] जबकि ये सभी बातें दिगम्बर परम्परा मान्य प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि में देखी जाती हैं, उसमें अनेक स्थानों पर अर्थ को लेकर खींच-तान करना पड़ी है। यह वस्तुस्थिति सूत्र और भाष्य की एककृतक होने की चिरकालीन मान्यता को सिद्ध करती है। यदि भाष्यकार और सूत्रकार एक ही हैं, तो सूत्रकार के श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने की पुष्टि होती है।

(v) पुनः भाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति ने अपनी उच्चनागर शाखा का उल्लेख किया है।[4] वह उच्चनागर शाखा दिगम्बर परम्परा में रही है, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता है। जबकि श्वेताम्बरमान्य कल्पसूत्र की स्थविरावलि में (२१६) और मथुरा के अनेक अभिलेखों में इस उच्चनागर शाखा का उल्लेख मिलता है।[5] कल्पसूत्र में यह उच्च-नागरी शाखा कोटिकगण की शाखा बतायी गयी है और आज भी सभी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनि अपने को कोटिकगण का मानते हैं। पुनः भाष्य में उमास्वाति ने अपने को वाचक वंश का बताया है, यह वाचक वंश भी श्वेताम्बर परम्परा में मान्य नन्दीसूत्र[6] में उल्लिखित है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी— भूमिका भाग, पृ० १६।

२. वही, पृ० १६।

३, वही, पृ० १७।

४. इदमुच्चैर्नागरवाचकेन'—तत्त्वार्थभाष्य ५।

५. कल्पसूत्र, (प्राकृत भारती) २१६ तथा जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेख-क्रमांक १९, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४, ७१।

६. वड्ढउ वायगवंसो—नन्दीसूत्र, स्तुति गाथायें, ३४, ३५।

(vi) इसी प्रकार भाष्य की 'कालश्चेके' ५/३८) एवं 'एकादश जिने' (९/११) की व्याख्याएँ तथा सिद्धों में लिंगद्वार और तीर्थद्वारों (१०/७) का भाष्यगत वक्तव्य तथा वस्त्र-पात्रसम्बन्धी उल्लेख (९/५, ९/७, ९/२६) भी दिगम्बर परम्परा के विपरीत जाते हैं, भाष्य में केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने का जो मन्तव्य भेद है वह भी दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं दिखता (१/३१)। पं० सुखलालजी के अनुसार उपर्युक्त युक्तिओं से यही सिद्ध होता है कि वाचक उमास्वामी श्वेताम्बर परम्परा के हैं।[1]

(vii) पुनः प्रशमरति की तत्त्वार्थसूत्र से तुलना करने पर जो समानताएँ दृष्टिगत होती हैं, उनके आधार पर उसे भी उमास्वाति की कृति होने में सन्देह नहीं रह जाता। उसमें भी मुनि के वस्त्र-पात्र आदि का उल्लेख होने से यही सिद्ध होता है कि उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के थे। इस प्रकार पं० सुखलालजी, कापडियाजी आदि श्वेताम्बर परंपरा के विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र, उसके स्वोपज्ञभाष्य और प्रशमरति की एककृतकता सिद्ध कर उमास्वाति को अपनी परम्परा का बताते हैं।[2]

(viii) तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य श्वेताम्बर परम्परा का है, इसका महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि तत्त्वार्थ के प्राचीन श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेनगणि और हरिभद्र दोनों ही उन्हें अपनी परम्ररा का मानते हैं और जहाँ उन्हें तत्त्वार्थ अथवा उसके भाष्य का आगम से विरोध परिलक्षित होता है वहाँ उसका स्पष्ट निर्देश करते हुए या तो वे आगम से उसका समन्वय स्थापित करते हैं या यह मान लेते हैं कि यह आचार्य की अपनी परम्परा होगी अथवा किसी दुर्विग्ध ने भाष्य का यह अंश विकृत कर दिया है। सिद्धसेनगणि लिखते हैं कि उमास्वाति तो वाचक मुख्य हैं, वाचक तो पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, उन्होंने ऐसा आगम विरोधी कैसे लिख दिया, यहाँ अवश्य ही किसी दुर्विग्ध ने भाष्य को नष्ट कर दिया है।[3]

---

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी–५, भूमिका भाग, पृ० १७।

२. वही. भूमिका भाग, पृ० १८।

३. नेदं पारमर्षं प्रवचनानुसारि भाष्यं किं तर्हि प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधं आर्षविसंवादि निबध्नीयात्। सूत्रानवबोधादुपजाताभ्रान्तिना केनापि रचितमेतत्। —तत्त्वाधिगमसूत्र भाष्य ९/६

सिद्धसेन के उपरोक्त कथन से दिगम्बर परम्परा के विश्रुत विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि 'उनके इस तरह के वाक्यों से प्रतीत होता है कि वे भाष्यकार को अपने ही सम्प्रदाय का समझते हैं।'[1] यहाँ एक बात स्पष्ट है कि सभी श्वेताम्बर विद्वानों में यह मतैक्य है कि तत्त्वार्थ और उसका भाष्य उनकी अपनी परम्परा का है। जबकि तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन दिगम्बर टीकाकार मूल ग्रंथ पर विस्तृत टीकाएँ लिखकर भी उस ग्रंथकार के विषय में मौन साधे हुए हैं जो इसी तथ्य का सूचक है कि या तो वे ग्रन्थकार के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं या उसके बारे में जानते हुए भी इसलिए मौन रह जाते हैं कि वह उनकी अपनी परम्परा का नहीं है, अतः उसका उल्लेख ही क्यों करें? अन्यथा क्या कारण था कि पूज्यपाद देवनन्दी और अकलंक ने उनका कहीं स्मरण नहीं किया? वास्तविकता यह है कि उमास्वाति उस परम्परा के थे जिसे श्वेताम्बर अपनी मानते थे और जिससे वे निकट रूप में जुड़े हुए थे। दिगम्बरों ने तत्त्वार्थ को यापनीयों से प्राप्त किया था। यापनीय उसी मूल धारा से अलग हुए थे, अतः उन्होंने ग्रन्थ को अपनाकर भी ग्रन्थकार को मान्य नहीं किया। दिगम्बर आचार्यों को इसीलिए कर्ता के सम्बन्ध में मौन साधना पड़ा।

जहाँ तक सूत्र, भाष्य और प्रशमरति को एककृतक मानने का प्रश्न है, श्वेताम्बर विद्वानों का इस सम्बन्ध में मतैक्य है, किन्तु दिगम्बर विद्वान् सूत्र, भाष्य, प्रशमरति को एककृतक नहीं मानते हैं उनकी दृष्टि में भाष्य और प्रशमरति किसी श्वेताम्बर आचार्य की रचना है जबकि तत्त्वार्थ किसी अन्य आचार्य की रचना है, जो दिगम्बर था। अतः इस सम्बन्ध में उनके तर्कों की समीक्षा कर लेना भी आवश्यक है।

क्या प्रशमरति प्रकरण और तत्त्वार्थ भाष्य भिन्न कृतक है?

तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति प्रकरण को भिन्न कृतक सिद्ध करने के लिए दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने उनमें मिलने वाले बहुत अधिक साम्य की उपेक्षा करके उनकी भिन्नता के कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करके यह स्पष्ट किया है कि उनमें जो साम्य है वह तो पूर्व परम्परा की एकरूपता के कारण हैं किन्तु उनमें जो वैषम्य है वह उनकी भिन्न कृतकता को सूचित करता है, अतः इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार कर लेना

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५४२।

आवश्यक है। इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि (i) तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति प्रकरण में संयम के जो सत्रह भेद बताये गये हैं वे संख्या की दृष्टि से समान होते हुए भी विवरण की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं।[1] 'तत्त्वार्थभाष्य' में संयम के सत्रह भेद निम्न हैं—

योगनिग्रहः संयमः। सः सप्तदशविधः। तद्यथा पृथ्वीकायिक-संयमः, अप्कायिक-संयमः, तेजस्कायिक-संयमः, वायुकायिक-संयमः, वनस्पतिकायिक-संयमः, द्वीन्द्रिय-संयम, त्रीन्द्रिय-संयमः, चतुरिन्द्रिय-संयमः, पंचेन्द्रिय-संयमः, प्रेक्ष्य-संयमः, उपदेश-संयमः, अपहृत्य-संयमः, प्रमृज्य-संयमः, काय-संयमः, वाक्-संयमः, मनःसंयमः, उपकरण-संयमः, इति संयमो धर्मः-तत्त्वार्थभाष्य ९।६

जबकि प्रशमरति में संयम के सत्रह भेद निम्न हैं—

पंचास्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदेशभेदः॥

—प्रशमरति कारिका १७२

इन दोनों में मात्र पाँच इन्द्रिय विजय और तीन दण्ड समान हैं किन्तु शेष नौ नाम भिन्न-भिन्न हैं। इस आधार पर श्रीमती कुसुम पटोरिया आदि का कहना है कि 'इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों रचनाएँ एककृतक नहीं हैं, उनके कर्ता भिन्न-भिन्न हैं अन्यथा एक ही कर्ता इस प्रकार का भिन्न-भिन्न कथन अपने ही ग्रन्थों में नहीं करता।[2] किन्तु उनकी यह मान्यता एक भ्रान्त धारणा पर स्थित है। संयम के सत्रह भेदों का दोनों शैलियों से विवेचन करने वाली परम्पराएँ अति प्राचीन हैं और आगमिक भी है, क्योंकि इनके उल्लेख उपलब्ध होते हैं। 'प्रवचनसारोद्धार' जो कि श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ है। उसमें दोनों ही प्रकार से संयम के सत्रह भेदों का उल्लेख हुआ है। उसके द्वार ६६ गाथा ५५५ में पाँच आश्रवों से विरति, पाँच इन्द्रियों पर विजय, चार कषाय का त्याग और तीन दण्ड से विरति ऐसे संयम के सत्रह भेद बताये हैं जबकि उसके द्वार ६६ की ही ५५६वीं गाथा में पृथ्वीकायादि सत्रह प्रकार के संयमों का उल्लेख हुआ है। पाँच आश्रव द्वार आदि के आधार पर संयम के सत्रह भेद करने वाली प्रवचनसारोद्धार की निम्न गाथा 'प्रशमरति' के अनुरूप है:

'पंचासवा विरमणं पंचेन्दिय निग्गहो कसाय जओ।
दण्डत्तयस्स विरई सत्तरसहा संजमो होइ॥'

—प्रवचनसारोद्धार ६६।५५५

---

१. यापनीय और उनका साहित्य,—डॉ॰ कुसुम पटोरिया, पृ० ११९–१२०।

जबकि पृथ्वीकाय आदि संयम के सत्रह भेद करने वाली प्रवचनसारोद्धार की निम्न गाथाएँ 'समवायांग' और 'तत्त्वार्थभाष्य' के विवरण के अनुरूप हैं—

पुढवि दग अगणि मारूय वणस्सइ बि ति चउ पणिंदिअज्जीवा।
पेहु घेह पमज्जण परिठवण अणो वई काए॥
—प्रवचनसारोद्धार ६६।५५६

न केवल श्वेताम्बर परम्परा में अपितु यापनीय परम्परा में भी आगमिक आधार पर संयम के दोनों शैलियों से सत्रह भेद करने की परम्परा प्रचलित रही है। यापनीय ग्रंथ भगवतीआराधना में गाथा ४१६–१७ में जो संयम के सत्रह भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर मान्य 'समवायांग' के १७वें समवाय के अनुरूप ही हैं। जबकि उसी परम्परा के प्रतिक्रमण में 'सत्तरस्सविहिसु असंजमेसु' की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्र ने उसकी टीका में एक ओर पृथ्वीकाय आदि संयम के सत्रह भेदों का उल्लेख किया है, वहीं दूसरी ओर पाँच आश्रव आदि के आधार पर संयम के सत्रह भेदों की चर्चा करने वाली निम्न गाथा भी प्रस्तुत की है—

'पंचासवेहिं विरमणं पंचेन्दियनिग्गहो
कसाय जयो तिहि दण्डेहिं य विरदि
सत्तारस्स संजया भणिदा'।[1]

प्रवचनसारोद्धार की उपरोक्त गाथा और दिगम्बर प्रतिक्रमण सूत्र की टीका में उल्लिखित यह गाथा समान ही है और 'प्रशमरति' प्रकरण की १७२वीं कारिका भी इनका संस्कृत रूपान्तरण मात्र है। वस्तुतः संयम के सत्रह भेदों की दोनों प्रकार से व्याख्या करने की शैलियाँ आगमिक और प्राचीन ही है। जिसका अनुकरण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं में पाया जाता है। वस्तुतः वर्गीकरण शैली की यह विविधता प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम के आधार पर स्थित है। जब प्रभाचन्द्र जैसे यापनीय परम्परा के मान्य विद्वान् एक ही ग्रंथ में प्रकारान्तर से संयम के दोनों प्रकार के वर्गीकरणों की चर्चा कर सकते हैं[1] और जब श्वेताम्बर 'सिद्धसेनसूरि' प्रवचनसारोद्धार में इन दोनों ही प्रकारों का

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी (प्रभाचन्द्र की टीका सहित) सं० पं० मोतीचन्द गोतमचन्द कोठारी, दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था कोल्हापुर पृ० ४९–५०।

उल्लेख करते हैं तो उमास्वाति के द्वारा दो भिन्न ग्रंथों में संयम के सत्रह भेदों का दो भिन्न दृष्टियों से उल्लेख किया जाना असम्भव नहीं है। इससे दोनों ग्रन्थों का भिन्न कृतक होना सिद्ध नहीं होता है। उमास्वाति ने जहाँ अपने विवरणात्मक गद्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थभाष्य' में प्राणी संयम की दृष्टि से संयम के सत्रह भेदों का विवेचन किया है, वहीं 'प्रशमरति' में इन्द्रिय-संयम की दृष्टि से संयम के सत्रह भेदों की चर्चा की। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दोनों ही शैलियों से संयम के सत्रह भेद करने की यह परम्परा आगमिक है और इसीलिए आगमों को मानने वाली श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं में मिलती है। दिगम्बर परम्परा में संयम के सत्रह भेदों की यह चर्चा अनुपलब्ध है क्योंकि न तो पूज्यपाद देवनन्दि और न अकलङ्क ही तत्त्वार्थटीका में इन सत्रह भेदों का कहीं कोई निर्देश करते हैं। जबकि यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना[१] और यापनीय प्रतिक्रमण की टीका में [२]प्रभाचन्द्र स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख करते है। अतः संयम के सत्रह भेदों का दो दृष्टियों से विवेचन करने वाली परम्परा, दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ न होकर एक ही आगमिक परम्परा का अनुसरण है। अतः उमास्वाति के द्वारा दो भिन्न ग्रन्थों में दो भिन्न किन्तु अपनी परम्परा की शैलियों का अनुसरण करना आश्चर्यजनक नहीं है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि 'प्रशमरति' और 'तत्त्वार्थभाष्य' एक ही आगमिक परम्परा की रचनाएँ हैं और उनके कर्ता भी एक ही हैं।

(ii) 'तत्त्वार्थभाष्य' और 'प्रशमरति' को भिन्न कर्तृक सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र में और तत्त्वार्थभाष्य में जीवों के भावों के पाँच प्रकारों का ही उल्लेख मिलता है (२।१) जब कि 'प्रशमरति' कारिका १९६–१९७ में पाँच प्रकार के भावों की चर्चा के पश्चात् छठें 'सान्निपातिक' (षष्ठश्च सन्निपातिक) नामक छठें भाव की भी चर्चा करती है।[3] इसे वैषम्य का सैद्धांतिक उदाहरण बताकर यह कहा गया है कि यदि इन दोनों का कर्ता एक होता तो ये सैद्धांतिक विषमताएँ उनमें नहीं हो सकती थी। ऐसी विषमता तो भिन्न कर्तृक कृतियों में ही सम्भव है।[४]

---

१. भगवतीआराधना, गाथा ४१६–१७।

२. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी (सम्पादक प्रकाशक पूर्वोक्त) पृ० ४९–५०।

३. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ११९।

४. वही, पृ० ११७।

मेरी दृष्टि में यह निष्कर्ष युक्तिपूर्ण नहीं है, प्रथम तो यह कि यह सैद्धांतिक वैषम्य न होकर मात्र संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन का परिणाम है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के समान प्रशमरति भी मूल में तो पाँच ही भाव की चर्चा करती है किन्तु जब वह उनमें से प्रत्येक के उपभेदों एवं उनके सन्निपातजन्य उपभेदों की चर्चा करती है तो वह कहती है कि छठें सान्निपातिक भाव के अन्य पन्द्रह भेद भी हैं। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि सान्निपातिक भाव स्वतंत्र भाव न होकर, एक मिश्रित भाव दशा है, अतः उसका तत्त्वार्थ में स्वतन्त्र भावों की चर्चा के प्रसंग में उल्लेख नहीं होना आश्चर्यजनक नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र-शैली का गद्य ग्रंथ है, जबकि प्रशमरति विवेचनात्मक शैली में लिखी गई पद्यात्मक रचना है, अतः उसमें अधिक विस्तार से चर्चा की गई। सैद्धांतिक वैषम्य तो तब होता, जब उनमें पाँच भावों में कोई अन्तर होता और सान्निपातिक भाव कोई स्वतंत्र भाव होता। सान्निपातिक शब्द स्वयं ही इस तथ्य का सूचक है कि यह स्वतंत्र भाव नहीं है। एक ही लेखक जब विस्तार से कोई चर्चा करता है तो पूर्व में अनुक्त अनेक बातों का उल्लेख करता है। पुनः इस चर्चा में यदि प्रशमरति प्रकरण, तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य से उत्तरवर्ती सिद्ध हो तो भी उससे उसकी भिन्नकृतकता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि एक ही लेखक जब जीवन के विविध चरणों में विविध रचनाएँ लिखता है और उनमें अन्तर भी होता है।

(iii) प्रशमरति, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य को भिन्न कृतक सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के विषय में तटस्थता प्रदर्शित की गई है, जबकि प्रशमरति में कालद्रव्य को समान भाव से स्वीकार किया गया है। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया लिखती हैं कि प्रशमरति प्रकरणकार ने छहों द्रव्यों का एक साथ प्रतिपादन किया। तत्त्वार्थसूत्र की तरह प्रशमरति प्रकरण में काल के विषय में अपनी तटस्थता प्रदर्शित नहीं की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रशमरति प्रकरणकार छहों द्रव्यों के अन्तर्गत कालद्रव्य को भी स्वतंत्र रूप से स्वीकार करते हैं (देखें कारिका २०६ एवं २१०)[1] इस आधार पर वे यह फलित निकालती है कि प्रशमरति प्रकरणकार और तत्त्वार्थसूत्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति है।

---

१. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० ११६।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में उमास्वाति ने अपना पक्ष प्रस्तुत नहीं किया है—मात्र उन्होंने जैन परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य की मान्यता को लेकर जो मतभेद था, उसका 'कालश्चेके' सूत्र में भी संकेत किया है। काल स्वतंत्र द्रव्य है या नहीं यह चर्चा प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में प्रचलित रही है। पार्श्व और उनकी परम्परा मात्र पंचास्तिकाय को ही मानते थे,[1] काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते थे, वे काल को जीव और अजीव की पर्याय ही मानते थे।[2] किन्तु महावीर की परम्परा में काल को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। स्वयं उत्तराध्ययन में काल को स्वतंत्र द्रव्य[3] मानकर उसके लक्षण की चर्चा है।[4] यदि आगमों में ही दोनों प्रकार के दृष्टिकोण थे, तो आगमों के आधार पर निर्मित ग्रंथ में उसका संकेत करना आवश्यक था। पुनः तत्त्वार्थ की रचना का उद्देश्य समग्र जैन दर्शन के प्रतिनिधि ग्रन्थ की रचना करना था, ताकि न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र और मीमांसासूत्र की तरह जैन दर्शन का भी कोई प्रतिनिधि सूत्र ग्रन्थ हो। जब कि प्रशमरति उनकी अपनी स्वतः रचना थी। अतः तत्त्वार्थ में उस तटस्थता का परिचय देना आवश्यक था, जब कि प्रशमरति में आवश्यक नहीं था। तत्त्वार्थ और उसके भाष्य में वे सम्पूर्ण जैन दर्शन की ओर से कोई बात कह रहे हैं, जबकि प्रशमरति में अपनी परम्परा की बात कर रहे हैं। आज भी कोई विद्वान् जब समग्र जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में कोई बात कहता है तो उसकी प्रस्तुतीकरण की शैली भिन्न होती है और जब अपनी साम्प्रदायिक मान्यता की बात करता है तो उसकी शैली भिन्न होती है।

पुनः यहाँ भी सैद्धांतिक मतभेद नहीं है क्योंकि कहीं भी उमास्वाति ने यह नहीं कहा है कि मैं काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानता हूँ। वे मात्र यह कहते हैं कि कुछ काल को भी स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। उन कुछ में उमास्वाति स्वयं भी हो सकते हैं। अतः इस आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता को प्रशमरति के कर्ता से भिन्न मानना उचित नहीं

---

१. से जहा नामते पंच अत्थिकाया ण कयाति णासी जाव णिच्चा एवामेव लोकेऽवि ण कयाति णासी जाव णिच्चे।—इसिभासिबाइं ३१।९

२. आगमयुग का जैनदर्शन, पं० दलसुख मालवणिया—पृ० २१३–२१४

३. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जन्तवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥—उत्तराध्ययन २८।७

४. 'वत्तणालक्खणो कालो।'—उत्तराध्ययन २८।१०

है। इस सन्दर्भ में यह भी स्मरण रखना होगा कि उमास्वाति के काल तक महावीर के संघ में विलीन पार्श्वापत्यों की पञ्चास्तिकाय को द्रव्य मानने की और काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानने की परम्परा क्षीण हो रही थी और काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने का पक्ष मजबूत होता जा रहा था। वह एक संक्रमण काल था, अतः उनके लिए तटस्थ रूप से उस विलुप्तप्रायः मान्यता का संकेत कर देना ही पर्याप्त था, उसे मानना आवश्यक नहीं था। पुनः ये दोनों ही परम्पराएँ आगमिक हैं और वे उमास्वाति को उसी आगमिक धारा का सिद्ध करती हैं।

(iv) प्रशमरति को तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता से भिन्न किसी अन्य की कृति बताने हेतु दिगम्बर विद्वानों द्वारा एक तर्क यह भी दिया जाता है कि त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर भी दोनों में भेद पाया जाता है।

जहाँ प्रशमरति में जीव के भेदों का वर्गीकरण करते हुए पाँच स्थावरों का विवेचन है[1] वहाँ तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थभाष्य में तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों को त्रस कहा गया है,[2] जबकि प्रशमरति इन दोनों को स्थावरों में वर्गीकृत करती है। सुश्री कुसुम पटोरिया[3] के अनुसार यह एक सैद्धांतिक मतभेद है और एक ही कर्ता की दो भिन्न कृतियों में इस प्रकार का सैद्धांतिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि वे भिन्न कृतक हैं। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रशमरति के कर्ता से भिन्न है और वे उनके उत्तरवर्ती हैं। मेरी दृष्टिसे इस सन्दर्भ में विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से आगमिक मान्यताओं का गम्भीर अध्ययन किये बिना इस तरह की बातें करना हास्यास्पद लगता है।

षट्जीवनिकायों में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट् प्रकार के जीव आते हैं किन्तु इन षट्जीवनिकायों में कौन त्रस है और कौन स्थावर ? इस प्रश्न को लेकर प्राचीनकाल से ही जैन परम्परा में भिन्न-भिन्न धारणाएँ उपलब्ध होती हैं। यद्यपि लगभग छठीं शती से

१. क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड्भेदा।—प्रशमरति १९२।

२. तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। तत्त्वार्थ २।१४
ज्ञातव्य है कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में मात्र 'द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः' इतना पाठ है, उसमें वायु और तेज को सूत्र २।१३ में सम्मिलित किया गया है।

३. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया, पृ० ११७।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँचों को स्थावर माना जाता है, किन्तु आगमिक परम्परा में इनके वर्गीकरण की भिन्न शैलियाँ रही हैं और उसमें भी अनेक मत-मतान्तर रहे हैं। तत्त्वार्थ का श्वेताम्बर परम्परा का भाष्यमान्य पाठ पृथ्वी, अप और वनस्पति—इन तीन को स्थावर और अग्नि, वायु तथा द्वीन्द्रिय आदि को त्रस निकाय में वर्गीकृत करता है। तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थभाष्य का यह पाठ उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय में उपलब्ध दृष्टिकोण के समान ही है।[1] किन्तु आचारांग से इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ आचारांग में अग्नि को स्थावर माना गया है, वहाँ तत्त्वार्थ में उसे त्रस कहा गया है। आगमों में षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण की अनेक शैलियाँ प्रचलित रही हैं और उनमें परिवर्तन भी होता रहा है। आचारांग में वायु और द्वीन्द्रिय आदि को त्रस माना गया, क्योंकि आचारांगकार वायुकाय की विवेचना त्रसकाय के पश्चात् करता है।[2] उत्तराध्ययन में अग्नि को उसमें सम्मिलित करके अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रस कहा गया है[3], किन्तु दूसरी ओर उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन की ३१वीं गाथा में[4] तथा दशवैकालिक के चौथे अध्याय में[5] यद्यपि त्रस और स्थावर का स्पष्ट नाम-निर्देश नहीं है, फिर भी उनकी विवेचन शैली से ऐसा लगता है कि वहाँ पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच को स्थावर ही माना गया होगा। क्योंकि इन पाँचों का उल्लेख करने के बाद त्रस का उल्लेख हुआ है। षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण के इन दोनों दृष्टिकोणों में दशवैकालिक की और उत्तराध्ययन के २६वें

---

१. तुलनीय—तत्त्वार्थ २।१३–१४ तथा उत्तराध्ययन ३६।

२. देखें—आचारांगसूत्र प्रथम श्रुत स्कन्ध प्रथम अध्ययन, उद्देशक ६ एवं ७।

३. पुढवी आउजीवा य तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे॥
तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे॥—उत्तराध्ययन ३६।६९, १०७

४. पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वनस्सइ तसाण।
पडिलेहणं आउत्तो छण्हं आराहओ होइ॥—उत्तराध्ययन २६।३१

५. तं जहा पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वनस्सकाइया, तसकाइया। दशवैकालिक, अध्याय ४।१
ज्ञातव्य है कि प्रशमरति की स्थिति दशवैकालिक के समान है।

अध्ययन की स्थिति प्रशमरति के समान है, प्रशमरति भी स्पष्ट रूप से यह तो नहीं कहती है, कि क्षितिआदि पाँच स्थावर है, किन्तु वह इन पाँचों का उल्लेख करने के पश्चात् त्रस कहकर जीव के छह भेद बताती है। जबकि उत्तराध्ययन के ३६वें अध्ययन की स्थिति तत्त्वार्थ और उसके भाष्य के समान है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ भाष्य और प्रशमरति दोनों में ही आगमिक मान्यताओं का ही अनुसरण किया है। ऐसा लगता है कि उनके काल तक दोनों ही मान्यताएँ प्रचलित रही हैं और किन्तु पाँच एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की अवधारणा धीरे-धीरे स्थिर हो रही थी, यही कारण है कि उन्होंने प्रशमरति में पंचस्थावरों की अवधारणा का उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन एवं दशवैकालिक के अनुरूप ही विवेचन किया। जब एक ही आगम में दोनों प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध हैं, तो यह आश्चर्यजनक नहीं है कि एक ही कर्ता की दो भिन्न कृतियों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध हो जायें। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के सर्वार्थ-सिद्धिमान्य पाठ[1] में और परवर्ती सभी दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाओं में पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु, वनस्पति इन पाँच को स्थावर माना गया है। किन्तु स्वयं दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। कुन्दकुन्द अपने ग्रन्थ पंचास्तिकाय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, अप, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं। इन एकेन्द्रिय जीवों में तीन स्थावर शरीर से युक्त हैं और शेष अनिल और अनल त्रस शरीर से युक्त हैं।[2] यहाँ कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण भी त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण में श्वेताम्बर आगम और श्वेताम्बर मान्य पाठ के समान है। किन्तु उसी पंचास्तिकाय की गाथा संख्या ११३ में उन्होंने प्रशमरति के समान ही पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति का एक साथ विवरण प्रस्तुत किया है।[3] यदि कुन्द-

१. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ।

—तत्त्वार्थ (सर्वार्थसिद्धि) २।१३

२. पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीव संसिदा काया ।
दंति खलु मोह बहुलं फासं बहुगा वि ते तेसि ॥
तित्थावरतणुजोगा अणिलाणल काइया ये। तेसु तसा ।
मणपरिणाम विरहिदा जीवा एगेंदिया णेया ॥

—पंचास्तिकाय ११०-१११

३. एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया ।
(मन) मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥ —पंचास्तिकाय ११३

कुन्द के एक ही ग्रन्थ में ये दोनों दृष्टिकोण एक साथ उपलब्ध हैं तो क्या यह माना जायेगा कि पंचास्तिकाय दो भिन्न आचार्यों की रचना है या वह मात्र एक संकलित ग्रन्थ है। प्रशमरति और तत्त्वार्थमूल तथा तत्त्वार्थ भाष्य में जिस अन्तर को इंगित करके हमारे दिगम्बर विद्वान् उन्हें दो भिन्न व्यक्तियों की रचना सिद्ध करते हैं, क्या वे अपने उसी तर्क के आधार पर पंचस्तिकाय को दो भिन्न व्यक्तियों को रचना मानने को तैयार हैं ?

वस्तुतः वर्गीकरण की ये जो दो शैलियाँ उपलब्ध होती हैं वे त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण के आधार पर नहीं है अपितु गतिशीलता और इन्द्रिय-संख्या इन दो आधारों पर है। अतः इन दोनों प्रकार की शैलियों में सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। जब षट्जीवनिकाय को एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि के आधार पर वर्गीकृत करना होता है, तो इस वर्गीकरण की दृष्टि से पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और वनस्पति को एक वर्ग में और त्रस को दूसरे वर्ग में रखा जाता है। किन्तु जब गतिशीलता की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता है, जो पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और उदार-त्रस को त्रस कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों वर्गीकरण दो भिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। हमारे विद्वान् वर्गीकरणों के इन दो दृष्टिकोणों को एक साथ मिलाकर भ्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। आगम युग में ऐन्द्रिक आधार से जब वर्गीकरण किया जाता था, तो इन पाँचों को एकेन्द्रिय वर्ग में और त्रस को एकेन्द्रियेतर वर्ग में रखा जाता है, किन्तु जब गतिशीलता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है तब पृथ्वी, अप और वनस्पति को अगतिशील अर्थात् स्थावर में द्वीन्द्रिय आदि को गतिशील मानकर त्रस में वर्गीकृत किया जाता है। अतः वर्गीकरण के इस प्रश्न को लेकर जो दिगम्बर विद्वान् तत्त्वार्थ और उसके भाष्य तथा प्रशमरति को भिन्न कृतक सिद्ध करना चाहते हैं, वे एक भ्रान्त अवधारणा को खड़ी करना चाहते हैं। जिस तर्क का वे यहाँ भिन्न कृतकता सिद्ध करने हेतु उपयोग करते हैं, जब वही तर्क कुन्दकुन्द के प्रसंग में उन पर लागू होता है तब वे असमंजस में पड़ जाते हैं। क्या पंचास्तिकाय की दो भिन्न मतों को प्रस्तुत करने वाली ये गाथायें एक कृतक नहीं है ? क्या इस आधार पर यह कहा जाय कि सर्वार्थसिद्धिमान्य तत्त्वार्थसूत्र का पाठ और पंचास्तिकाय के कर्ता एक ही सम्प्रदाय के नहीं है ? दूसरे शब्दों में कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के

नहीं है ? पुनः प्रशमरति में यह श्लोक षड्जीवनिकाय को सूचित करने के सन्दर्भ में आया है न कि त्रस-स्थावर के वर्गीकरण के सन्दर्भ में। पुनः यह श्लोक उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं पंचास्तिकाय में भी भाव की दृष्टि समान रूप से पाया जाता है। वस्तुतः प्रशमरति और तत्त्वार्थ एक ही आगमिक परम्परा के ग्रन्थ है।

इस प्रकार तत्त्वार्थ, उसके भाष्य और प्रशमरति में जो वैषम्य सिद्ध करके उनको पृथक् बताने का प्रयास किया गया है, वह निराधार सिद्ध हो जाता है।

पुनः तत्त्वार्थ और प्रशमरति में साम्यता के अनेकानेक उदाहरण पं० सुखलालजी की भूमिका से उद्धृत करके स्वयं कुसुम पटोरिया ने दिये ही हैं।[१] अतः विद्वानों को उन पर भी विचार लेना चाहिए। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों में श्रावक के व्रतों के नाम और क्रम एक समान है। तत्त्वार्थ (७/१५-१७) में इनका जो क्रम है, वह प्रशमरति (३०३-३०३) को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार दोनों में काल का लक्षण समान शब्दावली में दिया गया है। इस साम्य से तो यही सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। उनमें एक व्यक्ति के जीवन की दृष्टि से कालक्रम भेद और विचार भेद हो सकता है, किन्तु वे भिन्न कृतक किसी भी अवस्था में नहीं हो सकती। व्यावहारिक अनुभव में भी हम यह पाते हैं कि, 'एक ही व्यक्ति के जीवन में, कालक्रम में कुछ मान्यताएँ बिल्कुल बदल जाती हैं, तो यदि तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में कहीं क्वचित् मान्यता भेद, जो कि वस्तुतः तो नहीं है, यदि दिखाई भी पड़े तो इस आधार पर यह कल्पना कर लेना कि वे भिन्न व्यक्ति की रचनाएँ हैं, एक भ्रान्त अवधारणा है।

इसी प्रसंग में कुसुम पटोरिया का यह कथन भी विचारणीय है, "इन ग्रन्थों के सूक्ष्म अन्तः परीक्षण से हमें तो यही अवगत होता है कि प्रशमरति-प्रकरणकार के समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य विद्यमान थे। यह इसलिए कह सकते हैं कि प्रशमरतिप्रकरणकार ने पूर्व कवियों द्वारा रचित प्रशम-जननशास्त्रपद्धतियों के आधार-ग्रहण का जो उल्लेख किया है, इससे वे निश्चय ही उत्तरकालीन और भिन्न समयवर्ती हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पहले रचा गया और उसका भाष्य

---

१. देखें—यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ११५-११६।
—तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलालजी

उसके बहुत काल बाद रचा गया है और इन दोनों का आधार लेकर प्रशमरतिप्रकरणकार ने अपनी रचना प्रशमरति लिखी है।"[1]

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो मेरा निवेदन यह है कि प्रशमरति के कर्ता के समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य की उपस्थिति से यह सिद्ध नहीं होता है कि वे भिन्न कृतक हैं अथवा उनके बीच कालक्रम का लम्बा अन्तराल है। जब ये तीनों ग्रन्थ एक ही लेखक की रचना है और उसमें भी प्रशमरति उनकी बाद की रचना हो तो प्रशमरति में तत्त्वार्थ और उसके भाष्य की उपस्थिति स्वाभाविक ही है।

पुनः तीनों ग्रन्थों में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों का अनुसरण देखा जाता है, जो यही सिद्ध करता है कि वे तीनों एक ही आगमिक परम्परा के व्यक्ति की रचनाएँ है। अतः तत्त्वार्थ के कर्ता को दिगम्बर या यापनीय मानना और भाष्य और प्रशमरति के कर्ता को श्वेताम्बर कहना उचित नहीं है। भाष्य और प्रशमरति में जो तथ्य हैं वे उनके कर्ता को श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का पूर्वज ही सिद्ध करते हैं। तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में यदि किञ्चित मान्यता भेद भी हो तो उससे मात्र यही फलित होता है कि उमास्वाति की जीवन के उत्तरार्ध में कुछ मान्यताएँ बदली है। यद्यपि उनमें ऐसा मान्यता भेद नहीं देखा जाता है।

तत्त्वार्थ और उसके भाष्य तथा प्रशमरति में यदि काल का लम्बा अन्तराल होता तो उनमें कहीं न कहीं किसी रूप में गुणस्थान और सप्तभंगी जैसे विकसित जैन सिद्धान्तों का प्रवेश हो जाता। गुणस्थान जैन साधना और जैन कर्म सिद्धान्त का आधारभूत सिद्धान्त है, जो पाँचवीं शती के लगभग अस्तित्व में आया। तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरति में उनकी अनुपस्थिति से यही सिद्ध होता है कि वे समकालीन रचनाएँ हैं और उनके कालों में २०-३० वर्ष से अधिक का अन्तर नहीं रहा है। यदि दिगम्बर विद्वानों के अनुसार ये सातवीं-आठवीं शती की रचनाएँ होती तो इनमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त अवश्य आ जाते। क्योंकि पाँचवीं-छटीं शती के बाद की सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इनका उल्लेख है।

क्या तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य भी भिन्न कृतक हैं ?

दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् पं० फूलचन्द जी, पं० जुगल-

---

१. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० १२०।

किशोर जी आदि सूत्र और भाष्य में विरोध दिखाते हुए यह सिद्ध करते हैं कि वे भी भिन्न कृतक हैं। पं० फूलचन्द जी लिखते हैं[1]—

(i) "साधारणतः किसी विषय को स्पष्ट करने, उसकी सूचना देने या अगले सूत्र की उत्थानिका बाँधने के लिए टीकाकार आगे के या पीछे के सूत्र का उल्लेख करते हैं। यह परिपाटी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य में भी विस्तारपूर्वक अपनाई गई है।···· साधारणतः ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्र को उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक हिस्से को। पर जितने अंश को उद्धृत करते हैं वह अपने में पूरा होता है। ऐसा व्यत्यय कहीं भी नहीं दिखाई देता कि किसी एक अंश को उद्धृत करते हुए भी वे उसमें से समसित प्रारम्भ के किसी पद को छोड़ देते हों।

ऐसी अवस्था में हम तो यही अनुमान करते थे कि इन दोनों टीका ग्रन्थों में ऐसा उद्धरण शायद ही मिलेगा जिससे इनकी स्थिति में सन्देह उत्पन्न किया जा सके। इस दृष्टि से हमने सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य का बारीकी से पर्यालोचन किया है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि तत्त्वार्थभाष्य में एक स्थल पर ऐसा स्खलन अवश्य हुआ है जो इसकी स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है। यह स्खलन अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय हुआ है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय का प्रतिपादन करने वाला सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र इस प्रकार है—

'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।'

यही सूत्र तत्त्वार्थभाष्य मान्यपाठ में इस रूप में उपलब्ध होता है—

'मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।'

तत्त्वार्थभाष्य में सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्र पाठकी अपेक्षा 'द्रव्य' पदके विशेषणरूप से 'सर्व' पद अधिक स्वीकार किया गया है। किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्कार इस सूत्र के उत्तरार्ध को अध्याय १ सूत्र २० के भाष्य में उद्धृत करते हैं तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा—

'अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति—'द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' इति'

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेख में से लिपिकार की असावधानी-

---

१. देखें-सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री प्रस्तावना पृ० ४४-४५।

वश 'सर्व' पद छूट गया होगा किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अपनी टीका में सिद्धसेनगणि और हरिभद्र ने भी तत्त्वार्थभाष्य के इस अंश को इसी रूप में स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थ-भाष्यकार ने उक्त सूत्र का उत्तरार्ध 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' स्वीकार किया, तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके 'सर्व' पद को क्यों छोड़ गए। पद का विस्मरण हो जाने से ऐसा हुआ होगा यह बात बिना कारण के कुछ नपी-तुली प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा, फिर भी यदि विस्मरण होने से ही यह व्यत्यय माना जाय तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। हमारा तो ख्याल है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उनके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है इसका विशेष विचार किये बिना उन्होंने अनायास उसके सामने होने से सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है कि अध्याय १ सूत्र २० का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सके हों कि क्या इसमें 'सर्व' पद को 'द्रव्य' पद का विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूप में ही रहने दिया जाय और सम्भव है कि ऐसा कुछ निश्चय न कर सकने के कारण यहाँ उन्होंने पुराने पाठ को ही उद्धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करने के पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्र का स्वरूप निश्चित कर चुके थे फिर भी किसी खास सूत्र के विषय में शंकास्पद बने रहना और तत्त्वार्थ-भाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना सम्भव है। जो कुछ भी हो इस उल्लेख से इतना निश्चय करने के लिए तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वाति के सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य होना चाहिए।"

इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण यह है कि अपने ही ग्रन्थ में अपने किसी सूत्र को उद्धृत करते समय यह आवश्यक नहीं है कि पूरे ही सूत्र को उद्धृत किया जाये। स्वयं पं० जी इसी सन्दर्भ में पूर्व में यह स्वीकार कर चुके हैं कि "साधारणत: ये टीकाकार कहीं पूरे सूत्र को उद्धृत करते हैं और कहीं उसके एक हिस्से को ऐसी स्थिति में उद्धृत करते समय यदि द्रव्य के पूर्व सर्व विशेषण को उद्धृत नहीं किया तो, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्रकार स्वयं ही टीकाकार नहीं हो सकता।" विशेष बात

यह है कि इस प्रसंग में भाष्यकार सर्वपर्यायों के ज्ञान के निषेध पर बल देना चाहता है और इसलिए द्रव्य के आगे सर्व पद को उद्धृत करना उसे आवश्यक नहीं लगा होगा। पुनः 'द्रव्येषु' पाठ स्वतः बहुवचनात्मक प्रयोग होने से उसके सर्व विशेषण को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक भी नहीं था। अतः सर्व पद का उल्लेख होना या न होना बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है। पुनः विस्मरण अथवा लिपिकार द्वारा सर्व पद को छोड़ देना भी असम्भव नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थ और उसके स्वोपज्ञ भाष्य के काल तक लिखित ग्रंथों के माध्यम से अध्ययन करवाने की परम्परा जैनसंघ में नहीं थी, मौखिक परम्परा ही थी। अतः विस्मरण या लिपिकार का दोष सम्भव है। यदि उस सर्वार्थसिद्धि में, जिसके काल तक लिखने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी, आज सैकड़ों पाठभेद हैं, जिनका उल्लेख स्वयं० पं० फूलचन्दजी ने अपनी सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में पृ० १-७ में किया है, तो तत्त्वार्थ और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में एक-दो स्थल पर पाठभेद होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है कि जिसके आधार पर भाष्य की स्वोपज्ञता को नकारा जा सके। पुनः यह भी सम्भव है कि भाष्यकार के काल में यही पाठ रहा हो और बाद में परिष्कारित हुआ हो, किन्तु यह कहना तो अत्यन्त ही बचकाना लगता है कि सर्वार्थसिद्धि के पाठों के आधार पर भाष्यमान्य पाठ निश्चित हुआ है।

जब भाष्य के अनेकों अंश सर्वार्थसिद्धि में मूल पाठ के रूप में अथवा टीका के अंश में पाये जाते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि से पाठ उद्धृत किया होगा ? आश्चर्य तो यह होता है कि तत्त्वार्थ और उसके भाष्य को उमास्वाति की कृति मानकर भी यह कहना कि वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ को ग्रहण किया होगा। यदि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता वाचक उमास्वाति से भिन्न कोई आचार्य या आचार्य गृद्धपिच्छ थे, तो फिर तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी और अकलंक ने उनके नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया ? अपनी परम्परा के उस आचार्य का जिसके ग्रन्थ पर टीकाकार टीका लिख रहा है, उल्लेख न करे, इससे दुर्भाग्यपूर्ण बात अन्य क्या हो सकती है ? क्यों बाद के दिगम्बर आचार्यों ने अभिलेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ का कर्ता माना। पुनः यह कल्पना करना कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति और तत्त्वार्थभाष्य के कर्ता उमास्वाति दो भिन्न व्यक्ति है और उनमें प्रथम दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर है ? यदि ऐसा ही है तो अकलंक जैसे समर्थ आचार्य ने भाष्य की कारिकाओं

को अपने वार्तिक में क्यों उद्धृत किया। दुर्भाग्य से ऐसा सब सोच हमारे परम्परा के व्यामोह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का प्रतीक है। हम अपने साम्प्रदायिक व्यामोहों की मोहर उस आचार्य पर लगाना चाहते हैं, जो इन सम्प्रदायों के जन्म के पूर्व हुआ था।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में मात्र एक पाठ भेद पकड़ कर यह कह देना कि दोनों एक आचार्य की कृति नहीं है, दुर्भाग्यपूर्ण ही है।

मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या इस तरह के अनेकों पाठभेद दिगम्बर परम्परा में नहीं हैं। भगवती आराधना आदि अनेक ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में भी ऐसे पाठभेद मिल रहे हैं, जिनकी चर्चा स्वयं पं० कैलाशचंद जी, पं० नाथूरामजी आदि दिगम्बर विद्वान् भी कर चुके हैं। अन्य ग्रन्थों की बात छोड़िए—तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका की पुरानी मुद्रित प्रतियों में और वर्तमान में भारतीय ज्ञानपीठ से मुद्रित एवं स्वयं पण्डित फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित प्रति में ही एक-दो नहीं मात्र प्रथम अध्याय में ही पचास से अधिक स्थानों में पाठभेद का संकेत तो स्वयं पं० जी ने किया है और यह पाठभेद भी सामान्य नहीं है कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे ८-१० वाक्यों का अन्तर है। पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने इनके अतिरिक्त भी इसमें दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं बैठने वाले पाठों को पाठ शुद्धि के नाम पर कैसे और क्यों बदला है, इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मात्र उनकी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका के पृ० १ से ७ देखने का निर्देश करेंगे ताकि पाठक उनके मन्तव्य का सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन कर सके।

(ii) तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं कि "सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्य की कृति हों तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकार का विरोध न होना चाहिये और यदि उनमें कहीं पर ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं—उनके कर्ता भिन्न-भिन्न है—और इसलिये सूत्र का वह भाष्य 'स्वोपज्ञ' नहीं कहला सकता।" उनके अनुसार श्वेताम्बरों के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्य में ऐसी असंगति, भेद अथवा विरोध पाया जाता है।

प्रथमतः श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ में प्रथम अध्याय का २३वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

इसमें अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका नाम 'यथोक्तनिमित्तः' दिया है और भाष्य में 'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः' ऐसा लिखकर 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है; परन्तु 'यथोक्त' का अर्थ 'क्षयोपशम' किसी तरह भी नहीं बनता। 'यथोक्त' का सर्वसाधारण अर्थ होता है—जैसा कि कहा गया', परन्तु पूर्ववर्ती किसी भी सूत्र में 'क्षयोपशमनिमित्त' नाम से अवधिज्ञान के भेद का कोई उल्लेख नहीं है और न कहीं 'क्षयोपशम' शब्द का ही प्रयोग आया है, जिससे 'यथोक्त' के साथ उसकी अनुवृत्ति लगाई जा सकती। ऐसी हालत में 'क्षयोपशमनिमित्त' के अर्थ में 'यथोक्तनिमित्त' का प्रयोग सूत्रसन्दर्भ के साथ असंगत जान पड़ता है। इसके सिवाय, '**द्विविधोऽवधिः**' इस २१वें सूत्र के भाष्य में लिखा है—'भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च' और इसके द्वारा अवधिज्ञान के दो भेदों के नाम क्रमशः 'भवप्रत्यय' और 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाये हैं। २२वें सूत्र '**भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्**' में अवधिज्ञान के प्रथम भेद का वर्णन जब भाष्यनिर्दिष्ट नाम के साथ किया गया है तब २३वें सूत्र में उसके द्वितीय भेद का वर्णन भी भाष्यनिर्दिष्ट नाम के साथ होना चाहिये था और तब उस सूत्र का रूप होता—"**क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्**", जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः उक्त सूत्र और भाष्य की असंगति स्पष्ट है और इसलिये यह कहना होगा कि या तो 'यथोक्तनिमित्तः' पद का प्रयोग ही गलत है और या इसका जो अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्तः' दिया है वह गलत है तथा २१वें सूत्रके भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्त' नाम को न देकर उसके स्थान पर 'क्षयोपशमनिमित्त' नाम का देना भी गलत है। दोनों ही प्रकार से सूत्र और भाष्य की पारस्परिक असंगति में कोई अन्तर मालूम नहीं होता।"[1]

प्रस्तुत विवेचन से आदरणीय जुगलकिशोर जी मूल और भाष्य में जिस असंगति को दिखाना चाहते हैं, वह असंगति तो वहाँ कहीं परिलक्षित ही नहीं हो रही है—भाष्य में 'यथोक्तनिमित्त' को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि 'यथोक्त निमित्त' का तात्पर्य क्षयोपशम रूप निमित्त हैं। सम्भवतः यहाँ मुख्तार जी यह मानकर चल रहे हैं कि भाष्यकार ने यथोक्त शब्द का अर्थ क्षयोपशम किया है जो किसी प्रकार से नहीं बनता

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार पृ० १२६-२७।

है और इसीलिए वे भाष्य और मूल में असंगति मान रहे हैं। किन्तु यहाँ भाष्यकार ने 'यथोक्त' शब्द का स्पष्टीकरण नहीं करके मात्र 'निमित्त' शब्द को स्पष्ट किया है और बताया है कि निमित्त का तात्पर्य क्षयोपशम रूप निमित्त है। यहाँ मुख्तार जी ने इस सत्य को समझते हुए भी एक भ्रान्ति खडी करके येन केन प्रकारेण भाष्य और मूल में असंगति दिखाने का प्रयास किया है। यथोक्त निमित्त का पूरा स्पष्टीकरण है—क्षयोपशम के निमित्त आगमों में जैसी तप साधना बतायी गया है वैसी तप साधना से प्राप्त होने वाला अर्थात् साधना जन्य अवधि ज्ञान। यहाँ मुख्तार जी कहते हैं कि यदि मूल सूत्र में 'यथोक्त' कहा तो उसके पहले तत्त्वार्थ के किसी पूर्व सूत्र में उसका उल्लेख होना चाहिए था। किन्तु हमें ध्यान रखना है कि उमास्वाति तो आगमिक परम्परा के है, अतः उनकी दृष्टि में यथोक्त का अर्थ है—आगमोक्त। वस्तुतः जो परम्परा आगम को ही नहीं मानती हो, उसको सूत्र में प्रयुक्त यथोक्त शब्द का वास्तविक तात्पर्य कैसे समझ में आयेगा? इसलिए उसने भाष्य के आधार पर मूल में ही पाठ बदल डाला। चूँकि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम तो भवप्रत्यय में भी होता है, अतः सूत्र एवं भाष्यकार ने क्षयोपशम शब्द को मूल में न रखकर भाष्य में रखा ताकि यह भ्रान्ति पैदा न हो कि भवप्रत्यय बिना क्षयोपशम के ही हो जाता है। क्षयोपशम तो दोनों में है। मूल और भाष्य दोनों में संगति का परिचायक जो महत्त्वपूर्ण शब्द है वह तो 'निमित्त' है। उसमें अवधिज्ञान के दो भेद है—भव-प्रत्यय और निमित्त जन्य और यहाँ निमित्त शब्द का अर्थ प्रयत्न या तप साधना से है। इसलिए 'यथोक्त निमित्त'—इस सूत्र का तात्पर्य है, क्षयोपशम हेतु की गई आगमोक्त तप-साधना जन्य। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों ही अवधिज्ञान होते तो हैं अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ही—किन्तु जहाँ प्रथम में उस ज्ञान की उपलब्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना होता है, वह जन्मना होता है वहीं दूसरे के लिए प्रयत्न या साधना करनी होती है, अतः उसी जन्म की दृष्टि से पहला विपाक जन्य है तो दूसरा प्रयत्न या साधना जन्य। इस प्रकार भाष्य में 'यथोक्त' का अर्थ क्षयोपशम किया ही नहीं गया है अतः दोनों में असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह जानकर दुःख होता है कि आदरणीय मुख्तार जी इस स्पष्ट सत्य को क्यों नहीं समझ पाये? शायद सम्प्रदाय का व्यामोह ही इसमें बाधक बना हो।

पुनः अवधिज्ञान से सम्बन्धित इन दोनों मूल सूत्रों के श्वेताम्बर भाष्य मान्य और दिगम्बर सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ को देखें तो स्पष्ट हो जाता

है कि सर्वार्थसिद्धिकार ने भाष्य के आधार पर ही मूल पाठ को संशोधित किया है। चूँकि भाष्य में 'निमित्त' की व्याख्या 'क्षयोपशम निमित्त' थी। अतः उन्होंने 'यथोक्त', जिसका तात्पर्य आगमोक्त था, को मूलपाठ में से हटाकर उसके स्थान पर क्षयोपशम निमित्त ऐसा भाष्य पाठ रख दिया। इससे यह भी फलित होता है कि यापनीय या दिगम्बर परम्परा में जो पाठ बदले गये हैं—उनका आधार भी भाष्य ही रहा है। अन्यथा यहाँ 'गुण प्रत्यय' पाठ रखा जा सकता था। पुनः सर्वार्थसिद्धि में सुधरा हुआ अधिक स्पष्ट पाठ होना यही सूचित करता है कि वह भाष्य से परवर्ती है।

यद्यपि इस सुधारे गये पाठ में 'यथोक्त' शब्द हट जाने से एक भ्रान्ति जन्म लेती है, वह यह कि क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के बिना होता है? वस्तुतः 'यथोक्त निमित्तः' मूल पाठ भव-प्रत्यय अवधिज्ञान से गुणप्रत्यय अविधज्ञान का अन्तर जितनी अधिक गहराई से करता है, वैसा 'क्षयोपशम निमित्तः' पाठ नहीं कर पाता है। इसमें यथोक्त शब्द से अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के लिये जिस आगमोक्त तप साधना का निर्देश होता था, वह समाप्त हो गया और इस प्रकार स्पष्टता के प्रयास में पुनः एक भ्रान्ति ही खड़ी हो गई।

(iii) तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में असंगति दिखाकर उन्हें भिन्न कर्तृक दिखाने के प्रयत्न में आदरणीय मुख्तार जी तीसरा तर्क यह देते है कि—

श्वे० सूत्रपाठ के छठे अध्याय का छठा सूत्र है—

"इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।"

दिगम्बर सूत्रपाठ में इसी को नं० ५ पर दिया है। यह सूत्र श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र की टीका और सिद्धसेनगणी की टीका में भी इसी प्रकार से दिया हुआ है। श्वेताम्बरों की उस पुरानी सटिप्पण प्रति में भी इसका यही रूप है, जिसका प्रथम परिचय अनेकान्त के तृतीय वर्ष की प्रथम किरण में प्रकाशित हुआ है। इस प्रामाणिक सूत्रपाठ के अनुसार भाष्य में पहले इन्द्रिय का, तदनन्तर कषाय का और फिर अव्रत का व्याख्यान होना चाहिये था; परन्तु ऐसा न होकर पहले 'अव्रत' का और अव्रत वाले तृतीय स्थान पर इन्द्रिय का व्याख्यान पाया जाता है। यह भाष्यपद्धति को देखते सूत्रक्रमोल्लंघन नाम की एक असंगति है, जिसे सिद्धसेनगणी ने अन्य प्रकार से दूर करने का प्रयत्न किया है, जैसा कि पं० सुखलालजी के उक्त

तत्त्वार्थसूत्र की सूत्रपाठ से सम्बन्ध रखने वाली निम्न टिप्पणी (पृ० १३२)-से भी पाया जाता है :—

"सिद्धसेन को सूत्र और भाष्य की असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करने की कोशिश भी की है।"

परन्तु जान पड़ता है पं० सुखलालजी को सिद्धसेन का वह प्रयत्न उचित नहीं जँचा, और इसलिये उन्होंने मूलसूत्र में उस सुधार को इष्ट किया है जो उसे भाष्य के अनुरूप रूप देकर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पद से प्रारम्भ होने वाला बनाता है। इस तरह यद्यपि सूत्र और भाष्य की उक्त असंगति को कहीं-कहीं पर सुधारा गया है, परन्तु सुधार का यह कार्य बाद की कृति होने से यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्र और भाष्य में उक्त असंगति नहीं थी।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरीय आगमादि पुरातन ग्रन्थों में भी साम्परायिक आस्रव के भेदों का निर्देश इन्द्रिय, कषाय, अव्रत योग और क्रिया इस सूत्र निर्दिष्ट क्रम से पाया जाता है; जैसा कि उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' में उद्धृत स्थानांगसूत्र और नवतत्त्वप्रकरण के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

"पंचिदिया पण्गत्ता····चत्तारिकसाया पण्णत्ता····पंचअविरय पण्गत्ता····पंचवीसा किरिया पण्णत्ता····।"

—स्थानांग स्थान २, उद्देश्य १ सू० ६० (?)

"इंदियकसायअव्वयजोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा।"
किरियाओ पणवीसं इमाओ ताओ अणुकमसो॥"

—नवतत्त्वप्रकरण

इससे उक्त सुधार वैसे भी समुचित प्रतीत नहीं होता, वह आगम के विरुद्ध पड़ेगा और इस तरह एक असंगति से बचने के लिये दूसरी असंगति को आमन्त्रित करना होगा।"[1]

यह सत्य है कि 'इन्द्रियकषायाऽव्रत क्रिया' की विवेचना में भाष्य में क्रम-भेद है। जहाँ सूत्र में इन्द्रिय प्रथम और अव्रत तृतीय स्थान पर है,

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार पृ० १२७-२८।

वहाँ भाष्य में अव्रत प्रथम और इन्द्रिय तीसरे स्थान पर है, किन्तु यह कोई सैद्धान्तिक असंगति नहीं है, विवेचन में क्रम का अन्तर है। विस्मृति से भाष्य लिखते समय यह अन्तर आ गया होगा। क्रम का यह अन्तर भाष्य करते समय आया हो या प्रतिलिपि करते समय हुआ हो हम आज कुछ भी नहीं कह सकते। यह सत्य है कि सिद्धसेनगणि को जो प्रति मिली उसमे यह अन्तर था। पुनः भाष्यकार और सिद्धसेनगणि में भी तीन-चार सौ वर्ष का अन्तर है अतः ऐसी भूल मुखाग्र परम्परा में भी हो सकती है किन्तु इस सबसे यह कहीं फलित नहीं होता है कि दोनों में सैद्धान्तिक असंगति है। ऐसा क्रम भंग एक ही लेखक की दो कृतियों में भी अनेक बार हो जाता है, अतः इस आधार पर यह कहना अनुचित होगा कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। पुनः श्वेताम्बर मान्य मूलपाठ की आगम से जो संगति है जिसे स्वयं मुख्तार जी दिखा रहे हैं, वह यही सिद्ध करती है कि मूलपाठ आगमिक परम्परा के अनुरूप है और स्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के पाठ स्वयं भाष्य के क्रम के आधार पर सुधारे गये हैं, अतः परवर्ती भी हैं।

यदि वे क्रमभंग को बहुत बड़ी असंगति मानते हैं, तो फिर संख्या भेद तो महान असंगति होगी। इन्हीं आस्रव के कारणों की चर्चा के प्रसंग में ही हम देखते हैं कि जहाँ कुन्दकुन्द समयसार में 'प्रमाद' को छोड़कर मात्र मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ऐसे चार कारण मानते हैं, वहाँ तत्त्वार्थ मूल, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदि सभी पाँच कारण मानते हैं। क्या संख्या भेद की इस असंगति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द और सर्वार्थसिद्धिकार एक ही परम्परा के नहीं हो सकते? विवेचन में क्रम का व्यतिक्रम या संख्या भेद एक लेखक की कृति में भी सम्भव होता है, अतः इस आधार पर यह कहना कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है, एक दुराग्रह ही होगा।

(iv) आदरणीय मुख्तारजी तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य में एक असंगति यह भी दिखाते हैं कि—

चौथे अध्याय का चौथा सूत्र इस प्रकार है—

"इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्याऽऽत्मरक्ष-लोकपाला-ऽनीकप्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः।"

इस सूत्र में पूर्वसूत्रके निर्देशानुसार देवनिकायों में देवों के दश भेदों का उल्लेख किया है। परन्तु भाष्य में 'तद्यथा' शब्द के साथ उन भेदों को जो गिनाया है उसमें दश के स्थान पर निम्न ग्यारह भेद दे दिये हैं :—

"तद्यथा, इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकाधिपतयः अनीकानि प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।"

इस भाष्य में 'अनीकाधिपतयः' नाम का जो नया भेद दिया है वह सूत्रसंगत नहीं है। इसी से सिद्धसेनगणी भी लिखते हैं कि—

"सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरुपन्यस्ताः।"

अर्थात्—सूत्र में तो आचार्य ने अनीकों का ही ग्रहण किया है अनीकाधिपतियों का नहीं। भाष्य में उसका पुनः उपन्यास किया गया है। वे मानते हैं कि इससे सूत्र और भाष्य में जो विरोध आता है, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणी ने इस विरोध का कुछ परिमार्जन करने के लिये जो यह कल्पना की है कि भाष्यकार ने अनीकों और अनीकाधिपतियों के एकत्व का विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जान पड़ता है[1], वह ठीक मालूम नहीं होती; क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियों की एकता का वैसा विचार यदि भाष्यकार के ध्यान में होता तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियों के लिये अलग-अलग पदों का प्रयोग करके संख्या-भेद को उत्पन्न न करता। भाष्य में तो दोनों का स्वरूप भी अलग-अलग दिया गया है जो दोनों की भिन्नता का द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है; परन्तु दश भेदों में इन्द्र की अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेनगणि भी अपनी इस कल्पना पर दृढ़ मालूम नहीं होते, इसी से उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—"अन्यथा वा दशसंख्या भिद्येत'—अथवा यदि ऐसा नहीं है तो दश की संख्या का विरोध आता है[2]"।

यहाँ आदरणीय मुख्तार जी अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति में भेद दिखाकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जहाँ मूलसूत्र में देव परिषद् के दस प्रकार दिखाये हैं, वहाँ भाष्य में अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति को अलग-अलग मानने पर ग्यारह भेद हो जाते हैं। मुख्तार जी का एक तर्क यह भी है कि जिस प्रकार इन्द्र (देव-अधिपति) और देवों में

---

१. "तदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेव भाष्यकारेण।"

२. जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पृ० १२८-२९

भेद हैं, उसी प्रकार अनीकाधिपति और अनोक में भेद है और यह भेद मान लेने पर सूत्र और भाष्य की देवपरिषद् की संख्या में अन्तर आ जाता है। जब सूत्रकार और भाष्यकार एक ही है तो यह अन्तर होना नहीं चाहिये"। सर्वप्रथम तो हमारी समझ में यह नहीं आता कि मूल में अनीक और भाष्य में अनीक एवं अनीकाधिपति ऐसा भेद होने पर कौन-सी बहुत बड़ी असंगति हो जाती है। कोई भी व्याख्याकार व्याख्या में किसी भेद के उपभेद की चर्चा तो कर ही सकता है। पुनः क्या इस प्रकार भेद और उपभेदों की चर्चा दिगम्बर व्याख्याकारों ने नहीं की है? जब वे निक्षेप की चर्चा करते हैं तो क्या स्थापना के साकार-स्थापना और अनाकार-स्थापना ऐसे दो भेद नहीं करते हैं? और कोई आग्रह पूर्वक यह कहे कि साकार और अनाकार ऐसी दो स्थापना होने से व्याख्या में निक्षेप के पाँच भेद किये गये है अतः व्याख्या और मूल में असंगति है? ऐसे तो एक दो नहीं सैकड़ों असंगतियाँ किसी भी मूलग्रन्थ और उसके भाष्य या टीका में दिखाई जा सकती है। वास्तव में अनोक (सैनिक) के भाष्य में अनीक (सैनिक) और अनीकाधिपति (सेनापति) ऐसे दो भेद करने से न तो देव-परिषद् की दस संख्या में कोई अभिवृद्धि होती है और न भाष्य और मूल में कोई असंगति ही आती है। अनीक और अनीकाधिपति का भेद राजा और प्रजा के भेद से भिन्न है—राजा प्रजा नहीं होता है, स्वामी सेवक नहीं होता है किन्तु सेनापति अनिवार्य रूप से सैनिक होता ही है—अतः मुख्तार जी ने अपने मत की पुष्टि हेतु जो उदाहरण दिया है वह स्वतः ही असंगत है। ऐसे असंगत उदाहरण देकर तो कही भी असंगति दिखाई जा सकती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि सेना का कोई भी अधिकारी सैनिक होता ही है। अतः मुख्तार जी द्वारा दिखाई गई यह असंगति निरस्त हो जाती है। पुनः यदि वे कहे कि इन्द्र भी तो देव होता है और जब उसकी गणना तो अलग से की गई है तो फिर सेनापति की सैनिक से अलग परिगणना करना चाहिये, तो हमारा उत्तर यह है कि यह देव-परिषद् के प्रकारों की चर्चा है—इसलिये इन्द्र और उसकी परिषद् के सामानिक आदि देवों को अलग गिना गया। उसी परिषद् का एक अंग है—सैनिक देव (अनीक)। जब देव सेना के अंगों की चर्चा करना हो तो सैनिक एवं सेनापति आदि की अलग-अलग गणना करना चाहिये। वैसे तो सैनिक देवों के वर्ग में सेनापति स्वतः हो समाहित है अतः अनीक और अनीकाधिपति को अलग-अलग मानकर मूल और भाष्य में असंगति दिखाना अनुचित है।

(v) पुनः तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरमान्य मूल पाठ और उसके भाष्य में असंगति दिखाते हुए आदरणीय मुख्तार जी लिखते हैं कि—

"श्वे० सूत्रपाठके चौथे अध्याय का २६वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

"सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च ।"

इसमें लोकतान्तिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्टः ऐसे नव भेद बतलाये हैं, परन्तु भाष्यकार ने पूर्व सूत्रके भाष्य में और इस सूत्र के भाष्य में भी लोकान्तिक देवों के भेद आठ ही बतलाये हैं और उन्हें पूर्वादि आठ दिशा-विदिशाओं में स्थित सूचित किया है; जैसा कि दोनों सूत्रोंके निम्न भाष्यों में प्रकट है :—

"ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टकिकल्पा भवन्ति । तद्यथा—"

"एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम् ।"

इससे सूत्र और भाष्यका भेद स्पष्ट है। सिद्धसेनगणी और पं० सुखलालजी ने भी इस भेद को स्वीकार किया है; जैसा कि उनके निम्न-वाक्यों से प्रकट है—

"नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः ।"

"इन दो सूत्रों के मूलभाष्य में लोकान्तिक देवोंके आठ ही भेद बतलाये हैं, नव नहीं ।"

इस विषय में सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पा गये हैं कि लोकान्त में रहने वालों के ये आठ भेद जो भाष्यकार सूरि ने अंगीकार किये हैं वे रिष्टविमान के प्रस्तार में रहनेवालों की अपेक्षा नवभेदरूप हो जाते हैं, आगम में भी नव भेद कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं[1] परन्तु मूल सूत्र में जब स्वयं सूत्रकार ने नव भेदों का उल्लेख किया है तब अपने ही भाष्य में उन्होंने नव भेदों का उल्लेख न करके आठ भेदों का ही उल्लेख क्यों किया है, इसका वे कोई माकूल (युक्तियुक्त) वजह नहीं बतला सके। इसी से पं० सुखलालजी को उस प्रकार से कहकर छुट्टी पा लेना उचित नहीं जँचा और इसलिये उन्होंने भाष्य की स्वोपज्ञता में बाधा न

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० १२८-२९ ।

२. 'उच्यते—लोकान्तवर्तिनः एतेष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः रिष्टविमानप्रस्तारवर्ति-भिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः । आगमे तु नवधैवाधीता इति ।"

पड़ने देने के खयाल से यह कह दिया है कि—"यहाँ मूल सूत्र में 'मरुतो' पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है।" परन्तु इसके लिये वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीन से प्राचीन श्वेताम्बरीय टीका में 'मरुतो' पाठ स्वीकृत किया गया है तब उसे यों ही दिगम्बर पाठ की बात को लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

सूत्र तथा भाष्य के इन चार नमूनों और उनके उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक ही आचार्य की कृति नहीं है और इसलिये श्वे० भाष्य को 'स्वोपज्ञ' नहीं कहा जा सकता।"

इस चर्चा में जो असंगति आदरणीय मुख्तार जी दिखा रहे हैं वह यह है कि भाष्यमान्य मूल सूत्र में लोकांतिक देवों के नौ प्रकार उल्लेखित है जबकि भाष्य मात्र आठ प्रकारों की चर्चा करता है। पू० सिद्धसेनगणि और पं० सुखलाल जी दोनों ने इस संख्यागत भिन्नता का निर्देश किया किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं अयुक्तिसंगत है। वास्तविकता यह है कि भाष्यकार के समक्ष जो मूल पाठ रहा होगा उसमें तो आठ ही प्रकारों का उल्लेख रहा होगा—अन्यथा वे भाष्य में आठ की संख्या का निर्देश ही क्यों करते? जैसी कि पं० सुखलाल जी ने कल्पना की है, बाद में किसी श्वेताम्बर आचार्य ने मूलपाठ की समवायांग से संगति दिखाने हेतु उसमें मरुत को जोड़कर यह संख्या नौ कर दी। जब यापनीय और दिगम्बर आचार्यों ने अनेक पाठ बदल डाले, तो किसी परवर्ती श्वेताम्बर आचार्य ने कहीं एक नाम प्रक्षिप्त कर दिया तो मूल एवं भाष्य में बहुत बड़ी असंगति हो गई—यह नहीं कहा जा सकता है। जब भाष्यकर के समक्ष मूलपाठ में आठ ही नाम थे, तो फिर असंगति कहाँ हुई? भाष्यकार ने तो किसी एक स्थल पर भी मूल पाठ से अपनी असंगति की चर्चा नहीं की। जबकि सिद्धसेन गणि ने जहाँ भी मूलपाठ अथवा आगम से भाष्य में कोई भिन्नता दिखाई दी, उसकी चर्चा की है। जो प्राचीन श्वेताम्बर आचार्यों की बौद्धिक ईमानदारी को सूचित करता हैं।

पुनः यह भी ज्ञातव्य है कि लोकान्तिक देवों की संख्या चाहे आठ माने या नौ माने दोनों ही आगम सम्मत है। समवायांग दोनों मतों का निर्देश करता है। आठ की संख्या भी आगम संगत है। अतः भाष्य की न तो मूलपाठ से और न आगम से कोई असंगति है। जो असंगति आई है वह परवर्ती प्रक्षेप के कारण आई है, यद्यपि यह प्रक्षेप कब हुआ

और किसने किया यह कहना कठिन है—फिर भी सिद्धसेनगणि को मूल-और भाष्य की जो प्रति मिली, उसमें यह प्रक्षेप अवश्य था। यद्यपि यह प्रक्षेप भी आगम संगत है, आगम विरुद्ध नहीं। लगता है कि श्वेताम्बरों में जब लोकान्तिक देवों की संख्या नौ मान ली गई तभी किसी ने भाष्य का विचार किये बिना ही मूलपाठ में 'मरुत' शब्द प्रक्षिप्त कर दिया होगा। यह प्रक्षेप भी लगभग सातवीं शती के पूर्व ही हुआ होगा—क्योंकि सिद्धसेन गणि उससे अवगत है। आज उस युग की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है, अतः उसके प्रमाणीकरण का कोई साधन नहीं है। किन्तु भाष्य एवं सर्वार्थ सिद्धि आदि में जो पाठ है वे ही इस तथ्य का प्रमाण है कि यह प्रक्षेप हुआ है।

सर्वार्थ सिद्धि का पाठ संशोधन क्यों ?

हमारे दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पूर्व परम्परा के या उसके द्वारा मान्य ग्रन्थों यथा—तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरति और आगम में परस्पर असंगतियाँ दिखाकर यह सिद्ध करना चाहते है कि उनमें परस्पर विरोध है, अतः वे भिन्न कृतक और भिन्न परम्परा के हैं। किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि असंगतियाँ सर्वत्र है। सर्वार्थसिद्धि की दिगम्बर परम्परा में कितनी असंगतियाँ और कितने पाठभेद थे, यह सब हमें बताने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं पं०फूलचन्दजी की प्रस्तावना ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। वे लिखते हैं—"विशेष वाचन के समय मेरे ध्यान में आया कि सर्वार्थ सिद्धि में ऐसे कई स्थल हैं जिन्हें उसका मूल भाग मानने में सन्देह होता है। किन्तु जब कोई वाक्य, वाक्यांश, पद या पदांश लिपि-कार की असावधानी या अन्य कारण से किसी ग्रन्थ का मूल भाग बन जाता है तब फिर उसे बिना आधार के पृथक् करने में काफी अड़चन का सामना करना पड़ता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय के 'निर्देशस्वामित्व' और 'सत्संख्या' इन दो सूत्रों की व्याख्या षट्खण्डा-गम के आधार से की है। यहाँ केवल यह देखना है कि इन सूत्रों की व्याख्या में कहीं कोई शिथिलता तो नहीं आने पाई और यदि शिथिलता चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो उसका कारण क्या है ?

'निर्देशस्वामित्व'—सूत्र की व्याख्या करते समय आचार्य पूज्यपाद ने चारों गतियों के आश्रय से सम्यग्दर्शन के स्वामी का निर्देश किया है। वहाँ तिर्यंचिनियों में क्षायिक सम्यग्दर्शन के अभाव के समर्थन में पूर्व मुद्रित प्रतियों में यह वाक्य उपलब्ध है—

'कुत इत्युक्ते मनुष्यः कर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणप्रारम्भको भवति। क्षपणप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु[1] बद्धायुष्कोऽपि उत्तमभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीणां; द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात्। एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकं ज्ञेयं न पर्याप्तकानाम्।'

यहाँ 'द्रव्यवेदस्त्रीणां' यह वाक्य रचना आगम परिपाटी के अनुकूल नहीं है अतएव भ्रमोत्पादक भी है, क्योंकि आगम में तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी और मनुष्य, मनुष्यिनी ऐसे भेद करके व्यवस्था की गई है तथा इन संज्ञाओं का मूल आधार वेद नोषाय का उदय बतलाया गया है।

हमारे सामने यह प्रश्न था। हम बहुत काल से इस विचार में थे कि यह वाक्य ग्रन्थ का मूल भाग है या कालान्तर में उसका अंग बना है। तात्त्विक विचारणा से बाद भी इसके निर्णय का मुख्य आधार हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ ही थीं। तदनुसार हमने उत्तर भारत और दक्षिण भारत की प्रतियों का संकलन कर शंकास्थलों का मुद्रित प्रतियों से मिलान करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप हमारी धारणा सही निकली। यद्यपि सब प्रतियों में इस वाक्य का अभाव नहीं है पर उनमें से कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थीं जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है।" यह 'द्रव्यवेदस्त्रीणां' पाठ पण्डित जी को वस्तुतः इसलिये खटका कि आगे चलकर स्त्री मुक्ति निषेध की अवधारणा के समर्थन में षट्खण्डागम के मनुष्यनी शब्द की व्याख्या में उसका जो भाव स्त्री अर्थ लाया गया है, वह इसके विरोध में जाता है। दूसरा पक्ष यहाँ यह कह सकता था कि सर्वार्थसिद्धि में तो 'स्त्री' का अर्थ द्रव्य वेद किया है आप भाव स्त्री कैसे करते हैं। अतः पण्डितजी ने मूलपाठ में से द्रव्यवेद स्त्री शब्द ही पुरानी प्रति के नाम पर हटा दिया। यद्यपि वे यह नहीं बता सके कि यह पाठ किस प्रति में नहीं मिलता है। आगे पुनः पण्डित जी लिखते हैं—

"इसी सूत्र की व्याख्या में दूसरा वाक्य 'क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव' मुद्रित हुआ है। यहाँ मनुष्यिनियों के प्रकरण से यह वाक्य आता है। बतलाया यह गया है कि पर्याप्त मनुष्यिनियों के ही तीनों सम्यग्दर्शनों की प्राप्ति सम्भव है, अपर्याप्त मनुष्यिनियों के नहीं।' निश्चयतः मनुष्यिनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद की मुख्यता से ही कहा है यह द्योतिक करने के लिए इस वाक्य की सृष्टि की गई है।

किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि आगम में 'मनुष्यिनी' पद स्त्रीवेद के

---

१. सर्वार्थसिद्धि सं० पं० फूलचन्द्रजी प्रस्तावना पृ० १-७।

उदयवाले मनुष्य गति जीव के लिए ही आता है। जो लोक में नारी, महिला या स्त्री आदि शब्दों के द्वारा व्यवहृत होता है, आगम के अनुसार मनुष्यिनी शब्द का अर्थ उससे भिन्न है।[1] ऐसी अवस्था में उक्त वाक्य को मूल का मान लेने पर मनुष्यिनी शब्द के दो अर्थ मानने पड़ते हैं। इसका अर्थ तो स्त्री वेद का उदयवाला मनुष्य जीव होता ही है और दूसरा अर्थ महिला मानना पड़ता है चाहे उसके स्त्री वेद का उदय हो या न हो।

ऐसी महिला को भी जिसके स्त्री वेद का उदय होता है मनुष्यिनी कहा जा सकता है और उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन का निषेध करने के लिए यह वाक्य आया है, यदि यह कहा जाय तो इस कथन में कुछ भी तथ्यांश नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि आगम में मनुष्यिनी शब्द भाववेद की मुख्यता से ही प्रयुक्त हुआ है, अतएव वह केवल अपने अर्थ में ही चरितार्थ है। अन्य आपत्तियों का विधि-निषेध करना उसका काम नहीं है।'' किन्तु भाववेद अर्थात् स्त्री सम्बन्धी कामवासना वाली स्त्री में क्षायिक सम्यक् दर्शन मानना पण्डित जी को कदापि इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्त्री मुक्ति का साधक बनता अतः पण्डित जी ने यह लिखकर—'हमने इस वाक्य पर भी पर्याप्त ऊहापोह कर सब प्रतियों में इसका अनुसन्धान किया है। प्रतियों के मिलान करने से ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सब प्रतियों में नहीं उपलब्ध होता।' इस कथन से भी अपना पीछा छुड़ा लिया और भी ऐसे सभी प्रसंग जहाँ उन्हें आंतरिक असंगति या परम्परा से विरोध परिलक्षित हुआ इन्हीं पाठ भेदों के नाम पर हटा दिये। आदरणीय पण्डित जी ने उसकी चर्चा अपनी भूमिका में की है। पाठक पृष्ठ १ से ७ तक देख सकते हैं।

सर्वार्थसिद्धि प्रथम संस्करण कल्लप्पा भरमप्पा निटवे ने कोल्हापुर से प्रकाशित किया था। दूसरा संस्करण श्री मोतीचन्द्र गोतमचन्द्र कोठारी ने सोलापुर से प्रकाशित किया है। तीसरा संस्करण पं० बंशोधर जी सोलापुर वालों ने सम्पादित करके प्रकाशित किया है। यद्यपि पण्डित फूलचन्द जी स्पष्टतः यह मानते हैं कि अन्य संस्करणों की अपेक्षा यह संस्करण अधिक शुद्ध है। फिर भी पं० फूलचन्द जी को अनेक स्थलों पर पाठ बदलने पड़े हैं—आखिर क्यों? केवल अपनी मान्यता से संगति के लिये?

इस सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं कि अधिकतर हस्तलिखित प्रतियों में यह देखा जाता है कि पीछे से अनेक स्थलों पर विषयों को स्पष्ट करने लिए अन्य ग्रन्थों के श्लोक, गाथा, वाक्यांश या स्वतन्त्र टिप्पणियाँ जोड़-

---

१. पं० फूलचन्द जी का यह कथन स्वतः ही आत्म विरोधी है।

दी जाती हैं और कालान्तरमें वे ग्रन्थ का अङ्ग बन जाती हैं। सर्वार्थसिद्धि में यह व्यत्यय बहुत ही मात्रा में हुआ है। पंडित जी ने इस व्यत्यय को मिटाने हेतु कितना परिवर्तन किया है, इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मात्र उनके द्वारा प्रस्तुत सूची ही नीचे दे रहे हैं—

पृ०	पं०	पुरानी मुद्रित प्रति	प्रस्तुत संस्करण
३	३	—वत्। एवं व्यस्तज्ञाना—	—वत् व्यस्तं ज्ञाना—
६	१	स्वयं पश्यति दृश्येतऽनेनेति	पश्यति दृश्यतेऽनेन
६	१	ज्ञप्तिमात्रं	ज्ञातिमात्रं
१७	४	पुरुषाकारा—	पुरुषकारा—
१८	१	—र्थानामजीवानांनामा—	—र्थानां नामा—
१९	१	—विधिना नामशब्दा—	—विधिना शब्दा—
२०	१	तत्त्वं प्रमाणेभ्यो	तत्त्वं प्रमाणाभ्याम्
२९	६	—निर्देशः। प्रशंसा—	—निर्देशः। स प्रशंसा—
३०	२	संक्षेपरुचयः। अपरे	संक्षेपरुचयः। केचित् विस्तर-रुचयः। अपरे
३४	१	द्विविधा सामान्येन तावत्	द्विविधा सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन तावत्
४४	५	—संख्येयभागः	—संख्येया भागाः
४९	७	—स्पृष्टः अष्टौ नव चतु—	स्पृष्टः अष्टौ चतु—
५०	३	—ख्येयभागः स्पृष्टः। सासादन— सम्यग्दृष्टिभिः लोकस्यासंख्येयभागा अष्टौ नव चतुर्दश भागा वा देशोनाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम्। असंयत—	-ख्येमभागः। असंयत-
५९	२	—ख्येयः कालः। वन—	—ख्येया लोकाः। वन—
६४	११	—ज्ञिनां मिथ्यादृष्टेर्नाना—	—ज्ञिनां नानां—
७१	१०	—भ्यधिके। चतुर्णा—	—भ्यधिके। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नाना-जीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवं प्रति जघन्येनान्त-र्मुहूर्तः। उत्कर्षेण द्वे साग-रोपमसहस्रे पूर्वकोटीपृथक्त्वै-रभ्यधिके। चतुर्णा—

८३	७	—भागा असंख्येया उत्स—	—भागोऽसंख्येयासंख्येया उत्स—
८८	७	—संयता संख्ये—	—संयता असंख्ये—
८९	५	—भावः । इन्द्रियं प्रत्युच्यते । पञ्चेन्द्रियाद्येकेन्द्रियान्ता उत्तरोत्तरं बहवः पञ्चे—	—भावः । पञ्चे—
८९	७	—भावः कायं प्रत्युच्यते । सर्वतस्तेजः—कायिका अल्पाः । ततो बहवः पृथिवी—कायिकाः । ततोऽप्यप्कायिकाः । ततो वातकायिकाः । सर्वतोऽनन्तगुणा वन—स्पतवः । त्रस—	—भावः । त्रस—
९०	६	—दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति—	—दृष्टयोऽनन्तगुणाः विभंगज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मति—
९०	९	—यताः संख्ये—	यताः असंख्ये—
९०	९	—ष्टयः संख्ये—	—ष्टयः असंख्ये—
९१	५	—दृष्टयोऽसंख्ये—	—दृष्टयः संख्येय—
९१	१२	—संयता संख्ये—	—संयता असंख्ये—
९२	१	—दृष्टयः संख्ये—	—दृष्टयोऽसंख्ये—
९२	२	—दृष्टयोऽसंख्ये	—दृष्टयः संख्ये—
९२	७	—यताः संख्ये—	—यताः असंख्ये—
९२	९	—यताः संख्ये—	—यताः असंख्ये—
९२	१०	—बहुत्वम् । विपक्षे एकैकगुणस्थानग्रहणात् । संज्ञा—	—बहुत्वम् । संज्ञा—
९३	११	—स्वमर्थान्मिन्यते	—स्वमर्थो मन्यते
९४	१	अनेनेति तत्	अनेन तत्
९८	१	—ल्पाज्ञानभावः अज्ञाननाशो	—ल्पाज्ञाननाशो
९८	३	—धिगमे अन्य—	—धिगमे च अन्य—
९८	५	हेतुः तत्स्वरूप—	हेतुः स्वस्वरूप—
१००	१	—त्यर्थः उपमानार्थापत्त्यादीना मत्रैवान्तर्भावादुक्तस्य	—त्यर्थः । उक्तस्य
१०३	३	—ज्ञानमपि प्रति	—ज्ञानमक्षमेव प्रति
१०४	१	एवं प्रसक्त्या आप्तस्य	एवं सति आप्तस्य

१०७	२	संज्ञाः । सम—	संज्ञाः । सम—
१०७	४	नातिवर्तत इति	नातिवर्तन्त इति
११०	१	—र्गतं करणमित्यु	—र्गतःकरणमन्तःकरणमित्यु
१११	६	पताकेति ।	पताका वेति ।
१११	७	अपेतस्य	अवेतस्य
११३	७	बहुषु बहुविधेष्वपि	बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि
११७	३	द्वित्रिसिक्तः	द्वित्रासिक्तः
११७	५	द्वित्र्यादिषु	द्वित्रादिषु
१२०	५	प्रतीत्या व्यु—	प्रतीत्य व्यु—
१३१	३	ताभ्याम् । तयोः	ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम् । तयोः
१३४	१०	नारूपेष्विति	नारूपिष्विति
१४०	१	—ज्ञानमवध्यज्ञानं	ज्ञानं विभंगज्ञानं
१४०	८	—प्रवणप्रयोगो	प्रवणः प्रयोगो

ज्ञातव्य है कि यह भी सम्पूर्ण सूची नहीं है। इसी अध्याय के 'द्रव्यवेद स्त्रीणां' आदि परिवर्तित पाठों का भी इसमें समावेश नहीं है।

वस्तुतः पण्डित फूलचन्दजी ने सर्वार्थसिद्धि में पाठान्तर के नाम पर जो इतना अधिक परिवर्तन कर डाला, हमारी दृष्टि में वह मात्र पाठभेद से सम्बन्धित ही नहीं है, वह तो सिद्धान्त भेद से भी सम्बन्धित है। उनको जहाँ कहीं भी सर्वार्थसिद्धि के पाठ वर्तमान दिगम्बर परम्परा की मान्यता के प्रतिकूल लगे, उन्होंने वे सभी पाठ पाठशुद्धि के नाम पर बदल डाले। आगम में द्रव्यवेद का तात्पर्य सदैव हो स्त्री-शरीर (स्त्रीलिंग) से और भावभेद का तात्पर्य स्त्री सम्बन्धो कामवासना (स्त्रीवेद) से माना गया था, अतः सर्वार्थसिद्धिकार ने मनुष्यनी का अर्थ द्रव्यस्त्री किया। किन्तु ऐसा मान्य कर लेने पर षट्खण्डागम की स्त्रीमुक्ति की अवधारणा का निषेध करने हेतु आगे चलकर उसकी धवला टीका में जो भाव-स्त्री की चर्चा उठी है—उससे सर्वार्थसिद्धि का मन्तव्य भिन्न हो जाता। अतः पण्डित जी ने सर्वार्थसिद्धि का पाठ ही बदल डाला। क्योंकि यदि वे मनुष्यणी का तात्पर्य द्रव्य-स्त्री मानते जैसा सर्वार्थसिद्धिकार ने माना है, तो षट्खण्डागम की धवला टीका में भी मनुष्यणी का अर्थ द्रव्यस्त्री ही मानना होता और फिर स्त्री-मुक्ति निषेध की दिगम्बर परम्परा की अवधारणा ही खण्डित हो जाती। इस प्रकार पूज्यपाद जिस भावी

समस्या को नहीं देख सके थे, पण्डित जी ने उसे देख लिया और अपनी परम्परा को सुदृढ़ करने हेतु सर्वार्थसिद्धि का पाठ बदल डाला। इसी प्रकार पाठभेद के नाम पर अनेक स्थलों पर उन्होंने या तो 'अ' जोड़कर या 'अ' हटाकर पाठों को विपरीत अर्थवाला भी बना दिया, केवल प्रथम अध्याय में ही उन्होंने अनेक स्थलों पर यह उपक्रम किया है।

सबसे अधिक आश्चर्य तो यह है कि पण्डितजी को जिन-जिन स्थलों पर ऐसी शंकाये उठी थीं उन सभी शंकित स्थलों का समाधान उन्हें किसी न किसी प्रति में मिल गया। जो कि किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता है। पुनः आदरणीय पण्डितजी को स्पष्टरूप से यह भय था कि कोई उनसे यह पूछ सकता था कि कौन सा शुद्ध पाठ आपको किस प्रति में मिला। इससे बचने का उपाय भी आदरणीय पण्डितजी ने ढूँढ़ निकाला। उन्होंने गोलमोल उत्तर दिया और फिर कह दिया कि प्रति परिचय खो गया। प्रत्येक शंकित स्थल पर पण्डितजी का उत्तर होता है "यद्यपि सब प्रतियों में इस वाक्य का अभाव नहीं है, परन्तु उनमें कुछ प्राचीन प्रतियाँ ऐसी भी थी जिनमें यह वाक्य नहीं उपलब्ध होता है।" "इस वाक्य पर भी उहापोह कर सब प्रतियों में अनुसंधान किया है। प्रतियों के मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि यह वाक्य भी सभी प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता है।"[1] लगभग सभी जगह इसी प्रकार के उत्तर हैं। मात्र एक स्थल पर प्रति के उल्लेख के साथ उत्तर दिया। यदि एक स्थल पर प्रति के उल्लेख सहित उत्तर दिया गया, तो अन्यत्र क्यों नहीं दिया? अन्त में पण्डितजी ने अपने पूरे बचाव के लिये लिख दिया—"सर्वार्थसिद्धि को सम्पादित होकर प्रकाश में आने में आवश्यकता से अधिक समय लगा है। इतने लम्बे काल के भीतर हमें अनेक बार गृह परिवर्तन करना पड़ा है और भी कई अड़चने आई हैं। इस कारण हम अपने सब कागजात सुरक्षित नहीं रख सके...उन कागजातों में प्रति परिचय भी था। इसीलिए प्रतियों का जो पुरा परिचय हमने लिख रखा था वह तो इस समय हमारे सामने नहीं है और वे प्रतियाँ भी हमारे सामने नहीं, जिनके आधार से हमने कार्य किया था।"

जिस प्रकार पूर्व में दिगम्बर विद्वानों ने खट्खण्डागम के अपनी परम्परा के विपरीत मूलपाठ बदल डाले थे, यद्यपि बाद में दूसरे संस्करण

१. सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना पृ० ७।
२. वही, पृ० ७

में उन्हें पुनः सम्मिलित करना पड़ा। उसी प्रकार का कुछ उपक्रम सर्वार्थसिद्धि के सम्बन्ध में आदरणीय पण्डित फूलचन्द जी द्वारा किया गया है।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि की प्राचीन मुद्रित प्रति में भाष्य का जो अंश था वह भी क्यों निकाल दिया गया यह विचारणीय है।

विचार-विकास की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य का पूर्वापरत्व

श्वेताम्बर विद्वानों विशेषरूप से पं० सुखलालजी आदि ने तत्त्वार्थ की दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में उपलब्ध वैचारिक विकास जैसे—गुणस्थान, सप्तभंगी, प्रमाणचर्चा, स्त्रीमुक्ति निषेध, केवलभुक्ति निषेध आदि के आधार पर यह सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थभाष्य को अपेक्षा ये सभी टीकाएँ परवर्ती हैं, क्योंकि इन सभी में एक वैचारिक विकास परिलक्षित होता है। दिगम्बर विद्वानों के द्वारा इस तथ्य का कोई स्पष्ट समाधान दे पाना तो इसलिए सम्भव नहीं था, क्योंकि इन टीका ग्रन्थों में पग-पग पर वैचारिक विकास के तथ्य परिलक्षित होते हैं। फिर भी येनकेन प्रकारेण सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा तत्त्वार्थभाष्य में अर्थ विकास को दिखाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री अपनी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में लिखते हैं कि "कहीं-कहीं वस्तुके विवेचन में तत्त्वार्थभाष्य में अर्थ विकास के स्पष्ट दर्शन होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ—दसवें अध्याय में 'धर्मास्तिकायाभावात्' सूत्र आता है। इसके पहले यह बतला आये हैं कि मुक्त जीव अमुक कारण से ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यों नहीं जाता है और इसी के उत्तरस्वरूप इस सूत्र की रचना हुई है। किन्तु यदि टीका को छोड़कर केवल सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मन में यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होने से आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठ की यह स्थिति वाचक उमास्वाति के ध्यान में आई और उन्होंने इस स्थिति को साफ करने की दृष्टि से ही उसे सूत्र न मानकर भाष्य का अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टतः बाद में की गई जान पड़ती है। इसी प्रकार इसी अध्याय के सर्वार्थसिद्धि मान्य दूसरे सूत्र को लीजिए। इसके पहले मोहनीय आदि कर्मों के अभाव से केवलज्ञान की उत्पत्ति का विधान किया गया है। किन्तु इनका अभाव क्यों होता है इसका समुचित उत्तर उस सूत्र से नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्न को स्पर्श करते हैं। किन्तु वाचक उमास्वाति को यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप ये सर्वार्थसिद्धि-

मान्य **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'** इस सूत्र के पूर्वार्ध को स्वतंत्र और उत्तरार्ध को स्वतंत्र सूत्र मानकर इस कमी की पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धि में जब कि इसका सम्बन्ध केवल **'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः'** पद के साथ जोड़ा गया है वहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिए बतलाते हैं।''[1]

इस प्रकार पं० फूलचन्द्रजी सर्वप्रथम यह दिखाना चाहते हैं कि मुक्तात्मा लोकाग्र से आगे क्यों नहीं जाता है, इसके समाधान हेतु भाष्य में धर्मास्तिकायाभाववात् जो व्याख्या आयी है वह बाद में आयी है और उनकी दृष्टि में तो उमास्वाति ने सर्वार्थसिद्धि मान्यपाठ के आधार पर ही इसे ग्रहण किया है, फिर भी इसे सूत्र के रूप में मानकर भाष्य का अंग बनाया है। इस चर्चा में हमें देखना होगा कि अर्थ-विकास या विचार-विकास कहाँ है? सर्वप्रथम तो यदि हम इस सन्दर्भ में भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य मूल पाठ को देखें तो स्पष्ट लगता है कि भाष्यमान मूलपाठ में तो यह सूत्र है ही नहीं, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में यह सूत्र है। यदि उमास्वाति ने इसे सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ से लिया होता तो उसे मूलसूत्र ही क्यों नहीं रखा, भाष्य में इसे क्यों ले गये? सर्वार्थसिद्धि में वह मूलसूत्र था ही, फिर उन्हें मूलसूत्र रखने में क्या आपत्ति थी? यह निश्चित सत्य है कि कथन को तार्किक पूर्णता प्रदान करने के लिए इस तथ्य का उल्लेख होना आवश्यक था। किन्तु भाष्यमान्य मूलपाठ में इसका अभाव होने से यही प्रतिफलित होता है कि भाष्यमान्य पाठ अविकसित है और उसकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्यपाठ विकसित है। क्योंकि उसमें इसे मूलसूत्र का ही अंग बना लिया गया है। पुनः अनेक स्थलों पर हमने यह दिखाया है कि भाष्य के अनेक अंशों को सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में मूलसूत्र बना लिया गया है। वास्तविकता तो यह है कि भाष्य को देखकर ही सर्वार्थसिद्धिकार ने अथवा उसके पूर्व तत्त्वार्थसूत्र के किसी यापनीय टीकाकार ने मूल पाठ को संशोधित किया होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि अनेक प्रसंगों में भाष्यमान पाठ की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ अधिक विकसित है। सर्वार्थसिद्धिकार ने न केवल भाष्य के उस अंश को मूल के रूप में मान्य किया अपितु उस पर अपनी व्याख्या भी लिखी है। यदि हम इसी प्रसंग में देखें तो यह स्पष्ट लगता है कि भाष्यमान्य मूलपाठ की अपेक्षा भाष्य में क्वचित् अर्थ विकास है, किन्तु भाष्यमान्य मूलपाठ की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि मान्य मूलपाठ में और भाष्य की अपेक्षा

---

१. देखे—सर्वार्थसिद्धि स० पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, भूमिका पृ० ४५।

सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट रूप से एक-दो नहीं शताधिक स्थलों पर अर्थ विकास देखा जाता है। इस सत्य को देखते हुए भी यह कहना कि उमास्वाति ने सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य पाठ को लेकर अपना भाष्य बनाया, हमारी बौद्धिक ईमानदारी के प्रति प्रश्नचिह्न हो खड़ा करेगा। जब सर्वार्थसिद्धि में भाष्य के अंश को मूल पाठ मानकर उस पर व्याख्या लिखो जा रही है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि भाष्य में अर्थ विकास हुआ है ?

पुनः पं० फूलचन्दजो ने दसवें हो अध्याय के 'बन्ध····मोक्षः' (सर्वार्थसिद्धि ९।२) नामक सूत्र को लेकर भी अर्थ विकास की बात कही है। सर्वप्रथम तो हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भाष्यमान्य मूलपाठ में यह सूत्र दो भागों में विभाजित है जबकि सर्वार्थसिद्धि के मान्य पाठ में ये दोनों सूत्र मिलाकर एक कर दिये गये हैं। अतः यदि मात्र सूत्र की दृष्टि से देखे तो दोनों में किंचित् अन्तर नहीं है, एक सूत्र को दो सूत्र अथवा दो सूत्र को एक सूत्र कर देने को कभी भी अर्थ विकास नहीं कहा जा सकता। जहाँ कुछ प्रसंगों में भाष्यमान्य पाठ में सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ का एक सूत्र दो सूत्रों में मिलता है वहीं अधिकांश प्रसंगों में सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में भी भाष्यमान्य पाठ के एक सूत्र को दो सूत्रों में दिखाया गया है। इस प्रकार सूत्र विभाजन या सूत्र संकलन के आधार पर पूर्वापरत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता, जबतक कि अन्य कोई ठोस प्रमाण न हो। यदि हम यह मानें कि इन दो सूत्रों को एक मानकर मोक्ष की अधिक सुसंगत व्यवस्था सम्भव थी, तो ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ अधिक सुसंगत या विकसित है। पुनः पं० जी मानते हैं कि 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्' सूत्र का सम्बन्ध उमास्वाति ने पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनों से माना, इसमें अर्थ विकास कैसे हो गया, यह हम समझ नहीं पाते। कोई भी मध्यवर्ती सूत्र अपने पूर्वसूत्र से और अपने उत्तर सूत्र से सम्बन्धित होता ही है। इसमें अर्थ विकास की कल्पना कैसे आ गयी ?

इस सूत्र का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि टीका दोनों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धि अधिक विकसित है। सर्वार्थसिद्धि के इस सूत्र की व्याख्या में गुणस्थान और कर्म प्रकृतियों के क्षयोपशम की विस्तृत चर्चा है जबकि भाष्य में ऐसा कुछ भी नहीं है। फिर पं० जी किस आधार पर यह कहते हैं कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विकसित है। यदि भाष्य विकसित होता तो उसमें यहाँ गुणस्थान की चर्चा होनी थी, जैसी सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं में है। सम्भवतः हम अपने साम्प्रदायिक

अभिनिवेशों के कारण या तो सत्य को देखते ही नहीं या देखकर भी अपने पक्ष-प्रतिपादन हेतु उसे दृष्टि से ओझल कर देते हैं। मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि दसवें अध्याय के दूसरे और तीसरे सूत्र के भाष्य और सर्वार्थसिद्धि टीका के इन अंशों को देखकर स्वयं निर्णय करें कि कौन विकसित है ?

सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य को विकसित बताने के लिए पाँचवें अध्याय के काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र की भी चर्चा पं० जी ने की है। वे लिखते हैं कि ऐसी ही एक बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, पाँचवें अध्याय के काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र के प्रसंग से आती है। प्रकरण परत्व और अपरत्व का है। ये दोनों कितने प्रकार के होते हैं इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोंमें किया है। सर्वार्थसिद्धि में इनके प्रकार बतलाते हुए कहा है—परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य में ये दो भेद तो बतलाये ही गये हैं, साथ ही वहाँ प्रशंसाकृत परत्वापरत्व का स्वतन्त्र रूप से और ग्रहण किया है। वाचक उमास्वाति कहते हैं—**परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।**

इतना ही नहीं। हम देखते हैं कि इस सम्बन्धमें तत्त्वार्थवार्तिककार तत्त्वार्थभाष्य का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने काल के उपकार के प्रतिपादक सूत्र का व्याख्यान करते हुए परत्व और अपरत्व के इन तीन भेदों का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

'क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्तात्परत्वापरत्वानवधारणमिति चेत् ? न, कालोपकारप्रकदणात्[1]**।'**

अतएव क्या इससे यह अनुमान करनेमें सहायता नहीं मिलती कि जिस प्रकार इस उदाहरण से तत्त्वार्थभाष्य तत्त्वार्थवार्तिककारके सामने था इस कथन की पुष्टि होती है उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य सर्वार्थसिद्धि के बाद की रचना है इस कथन की भी पुष्टि होती है।

यह सत्य है कि जहाँ वाचक उमास्वाति ने 'परत्वापरत्व' के प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत ऐसे तीन भाग माने हैं वहाँ सर्वार्थसिद्धि में केवल परत्वापरत्व के क्षेत्रकृत और कालकृत ऐसे दो भागों की चर्चा हुई है, लेकिन यहाँ भी यदि हम मूलभाष्य और सर्वार्थसिद्धि को सामने रखकर देखें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार ने परत्वापरत्व

१. देखें—सर्वार्थसिद्धि, सं० पं० फूलचन्दजी भूमिका पृ० ४५-४६।

के न केवल क्षेत्रकृत और कालकृत भेदों का उल्लेख किया है अपितु इनकी अतिविस्तार में चर्चा भी की है। वस्तुतः पूज्यपाद ने परमार्थकाल और व्यवहारकाल, भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल की चर्चा तो की है, अपितु परमार्थ काल और व्यवहार काल में उनकी मुख्यता और गौणता की भी विस्तार से चर्चा की है। यदि भेद चर्चा को ही विकास का आधार माना जाये तो पंचम अध्याय के 'निष्क्रियाणिच' (श्वे० ६/ दिग० ७) में उत्पाद के दो भेदों की चर्चा हुई है, जबकि भाष्य में ऐसी कोई चर्चा नहीं है। इससे यह स्पष्ट लगता है कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य की अपेक्षा विचार और भाषा दोनों ही दृष्टि से अधिक विकसित है। परत्व और अपरत्व के भेदों की चर्चा में क्षेत्र और काल के अतिरिक्त प्रशंसा को उसका एक भेद मानना अथवा नहीं मानना यह पूज्यपाद की अपनी व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न भी हो सकता है। सम्भवतः पूज्यपाद ने भाष्य के सम्मुख होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं किया हो, किन्तु आगे अकलंक ने अपने वार्तिक में उसका अनुसरण किया हो। यदि विकास को समझना है तो हमें वैचारिक विकास की दृष्टि से विविध तथ्यों का संकलन करना होगा। नीचे तुलनात्मक दृष्टि से हम कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहे है जिस पर विचार करके पाठकों को यह निर्णय करने में सुविधा होगी कि वैचारिक विकास की दृष्टि से कौन पूर्व है ओर कौन पश्चात्।

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थभाष्य
१. सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान और मार्गणा स्थान का अत्यधिक विकसित और विस्तृत विवरण उपलब्ध है। सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्ययन के ८वें सूत्र की व्याख्या में लगभग सत्तर पृष्ठों में गुणस्थान और मार्गणास्थान की चर्चा की गई है।	१. जबकि तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है, उसमें प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या केवल दो पृष्ठों में समाप्त हो गई है। मार्गणा के रूप में मात्र गति इन्द्रिय काय, योग, कषाय आदि का नामोल्लेख है, उनके सम्बन्ध में कोई विस्तृत चर्चा नहीं है। सत्तर पृष्ठों में चर्चा करनेवाला ग्रन्थ विकसित है या मात्र दो पृष्ठों में चर्चा करने वाला विकसित है पाठक स्वयं यह विचार कर लें।

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थभाष्य
२. सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों का उल्लेख मिलता है। इसमें नयों की यह व्याख्या लगभग सात पृष्ठ में समाप्त हुई है।	२. भाष्यमान्य पाठ में प्रारम्भ पाँच नयों का उल्लेख करके फिर उनमें प्रथम और अन्तिम के दो और तीन विभाग किये गये हैं। इसमें यह व्याख्या पाँच पृष्ठों है।
३. औपशमिक आदि भावों की जो व्याख्या सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध है वह लगभग तीन पृष्ठों में हैं।	३. भाष्य में यह व्याख्या मात्र छह पंक्तियों में समाप्त हो गयी है।
४. सम्यक् चारित्र को सवार्थ-सिद्धि में लगभग एक पृष्ठ में व्याख्या की गई है।	४. भाष्य में मात्र एक पंक्ति में विवेचन करता है।
५. द्वितोय अध्याय के चतुर्थ सूत्र क्षायिक भाव की व्याख्या लग-भग एक पृष्ठ में है।	५. इसमें यह मात्र दो पंक्तियों में है।
६. सर्वार्थसिद्धि में स्त्री-मुक्ति का निषेध किया गया है।	६. भाष्य में इस चर्चा का पूर्णतः अभाव है। यह चर्चा छठीं शती के पश्चात् ही अस्तित्व में आयी है।
७. सर्वासिद्धि में पंचम अध्याय के प्रथम सूत्र से इक्कीसवें सूत्र तक २१ सूत्रों की व्याख्या २६ पृष्ठों में हैं।	७. तत्त्वार्थभाष्य में इन २१ सूत्रों की व्याख्या मात्र छः पृष्ठों में है।
८. सर्वार्थसिद्धि में अनेक स्थलों पर पूर्व पक्ष की ओर से शंका उपस्थित कर उसका समाधान किया गया है।	८. तत्त्वार्थभाष्य में इस शैली का लगभग अभाव सा है यह शैली खण्डन-मण्डन युग की देन है। भाष्य में उसकी अनुपस्थिति स्वतः ही उसकी प्राचीनता का प्रमाण है।
९. सर्वार्थसिद्धि (१/१९) में चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है इसकी सिद्धि में आप्राप्य-कारितों का दार्शनिक सिद्धान्त	९. भाष्य में अप्राप्यकारिता की कोई चर्चा ही नहीं है। मात्र तीन पंक्तियों में व्याख्या समाप्त हो गयी है।

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थभाष्य
वर्णित है। उसमें अपने मत की पुष्टि में आवश्यक निर्युक्ति की पाँचवीं गाथा भी कुछ पाठभेद के साथ उद्धृत है। यह गाथा पंचसंग्रह (१/९८) में भी उपलब्ध है।	जबकि भाष्य में ये व्याख्याएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं।
इस प्रकार दो-चार अपवादों को छोड़कर सामान्यतः सर्वार्थसिद्धि में हर सूत्र की विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं।	

यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर पाठकों से इतना निवेदन अवश्य करेंगे कि वे निर्देशित अंशों का स्वयं अवलोकन करके यह निश्चित कर लें कि कौन विकसित है ?

तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता एवं प्राचीनता—

तत्त्वार्थभाष्य को दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी ने न केवल स्वोपज्ञ माना है अपितु उसे सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर टीकाओं से प्राचीन भी माना है। हम यहाँ उनके कथन को शब्दशः उद्धृत कर रहे हैं—

"भाष्य की प्रशस्ति उमास्वाति का पूरा परिचय देनेवाली और विश्वस्त है। इसमें कोई बनावट नहीं मालूम होती और इससे प्रकट होता है कि मूलसूत्र के कर्त्ता का ही यह भाष्य है।

भाष्य की स्वोपज्ञता में कुछ लोगों को सन्देह है; परन्तु नीचे लिखी बातों पर विचार करने से वह सन्देह दूर हो जाता है–

१. भाष्य की प्रारम्भिक कारिकाओं में और अन्य अनेक स्थानों में 'वक्ष्मामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्रों में कथन किया गया है। अतएव सूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता एक हैं।

२. सूत्रों का भाष्य करने में कहीं भी खींचातानी नहीं की गई। सूत्र का अर्थ करने में भी कहीं सन्देह या विकल्प नहीं किया गया और न

१. ज्ञातव्य है कि पृ० ३०५ से लेकर ३११ तक का यह समग्र अंश हमने पं० नाथूरामजी प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' से यथावत् उद्धृत किया है और इस हेतु हम लेखक और प्रकाशक के आभारी हैं।

किसी दूसरी व्याख्या या टीका का खयाल रखकर सूत्रार्थ किया गया है। भाष्य में कहीं किसी सूत्र के पाठ-भेद की चर्चा है और न सूत्रकार के प्रति कहीं सम्मान ही प्रदर्शित है।

३. भाष्य के प्रारम्भ की ३१ कारिकायें मूल सूत्र-रचना के उद्देश्य से और मूल ग्रंथ को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं। इसी प्रकार भाष्यान्त की प्रशस्ति भी मूलसूत्रकार की है। भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न होते और उनके समक्ष सूत्रकार की कारिकायें और प्रशस्ति होती, तो वे स्वयं भाष्य के प्रारम्भ में और अन्त में मंगल और प्रशस्ति के रूप में कुछ न कुछ अवश्य लिखते। इसके सिवाय उक्त कारिकाओं की और प्रशस्ति की टीका भी करते।[1]

भाष्य की प्राचीनता—

१. तत्त्वार्थ की सुप्रसिद्ध टीका तत्त्वार्थवार्तिक के कर्ता अकलंकदेव विक्रम की आठवीं शताब्दि के हैं। वे इस भाष्य से परिचित थे। क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में भाष्यान्त की ३२ कारिकायें 'उक्तं च' कहकर उद्धृत की हैं। इतना ही नहीं, उक्त कारिकाओं के साथ का भाष्य का गद्यांश भी प्रायः ज्योंका त्यों दे दिया है।[2] इसके सिवाय आठवीं 'दग्धे बीजे' आदि कारिका को और भी एक जगह-'उक्तं च' रूप से उद्धृत किया है।[3]

---

१. देखो, पं सुखलालजीकृत हिन्दी तत्त्वार्थ की भूमिका पृ० ४५-५०।

२. "ततो वेदनीयनामगोत्रआयुष्कक्षयात्फलबन्धननिर्मुक्तो निर्दग्धपूर्वोपात्तेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेत्वभावाच्चेत्तरस्याप्रादुर्भावाच्छान्तः संसारसुखमतीत्यान्त्यान्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं नित्यं निर्वाण-सुखमवाप्नोतीति। एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं....."—भाष्य।

"ततः शेषकर्मक्षयाद्भावबन्धनिर्मुक्तः निर्दग्धपूर्वोपादनेन्धनो निरुपादान इवाग्निः पूर्वोपात्तभववियोगाद्धेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भत्सान्तसंसारसुखम-तीत्य आत्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं निरतिशयं निर्वाणसुखमवाप्नोतीति। तत्त्वार्थभावनाफलमेतत्। उक्तं च—एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं....."—राजवार्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ बनारस में राजवार्तिक की जो ताडपत्र की प्रति आई है, उसमें 'एवं तत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्य' ही पाठ हैं, छपी प्रति जैसा 'सम्यक्त्वज्ञानचरित्रसंयुक्तस्य' नहीं। यह पिछला पाठ सम्पादकों द्वारा अमृतचन्द्रसूरि के तत्त्वार्थसार' के अनुसार बनाया गया है और तत्त्वार्थसार को राजवार्तिक का पूर्ववर्ती समझ लिया गया है जो कि भ्रम है।)

३. तत्त्वार्थवार्तिक (मुद्रित) पृ० ३६१।

२. तत्त्वार्थवार्तिक में अनेक जगह भाष्यमान्य सूत्रों का विरोध किया है[1] और भाष्य के मत का भी कई जगह खण्डन किया है[2]।

३ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री और पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भी मानते हैं कि अकलंकदेव भाष्य से परिचित थे[3]। डॉ० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री एम० ए० ने भी भाष्य और वार्तिक के अनेक उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध किया है[4]।

४ वीरसेन ने अपनी जयधवला टीका शक संवत् ७३८ (वि० सं० ८७३) में समाप्त की है। इसमें भी भाष्यान्तकी उक्त ३२ कारिकायें उद्‌धृत हैं[5]। इससे भी भाष्यकी प्राचीनता और प्रसिद्धि पर प्रकाश पड़ता

---

१. तृतीय अध्याय के पहले भाष्यसम्मत सूत्र में 'पृथुतरा' पाठ अधिक है। इसको लक्ष्य करके राजवार्तिक (पृ० ११३) में कहा है—"पृथुतरा इति केषांचित्पाठः।" चौथे अध्याय के नवें सूत्र में 'द्वयोर्द्वयोः' पद अधिक है। इस पर राजवार्तिक (पृ० १५३) में लिखा है--'द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेन्न आर्षविरोधात्।" इसी तरह पाँचवें अध्याय के ३६वें सूत्र 'बन्धे-समाधिकौ पारिणामिकौ' को लक्ष्य करके पृ० २४२ में लिखा है—"समाधिकावित्यपरेषां पाठः—स पाठो नोपपद्यते। कुतः, आर्षविरोधात्।"

२. पाँचवें अध्याय के अन्त में 'अनादिरादिमांश्च' आदि तीन सूत्र अधिक हैं। पृ० २४४ में इन सूत्रों के मत का खंडन किया है। इसी तरह नवें अध्याय के ३७ वें सूत्र में 'अप्रमत्तसंयतस्य' पाठ अधिक है, उसका विरोध करते हुए पृ० ३५४ में लिखा है, "धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न। पूर्वेषां विनिवृत्तप्रसंगात्।"

३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग की प्रस्तावना पृ० ७१।

४. देखो, अनेकान्त वर्ष ३, अंक ४-११ में 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक', जैन सिद्धान्तभास्कर वर्ष ८ और ९ तथा जैनसत्यप्रकाश वर्ष ६ अंक ४ में तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक में शब्दगत और चर्चागत साम्य तथा सूत्रपाठसम्बन्धी उल्लेख।'

५. जयधवला में भाष्य की जो उक्त कारिकायें उद्धृत हैं, उनके बाद जयधवलाकार कहते हैं—'एवमेत्तिएण पबंधेण णिव्वाणफलपज्जवसाणं।' इस वाक्य को देखकर एक विद्वान् ने (अनेकान्त वर्ष ३, अंक ४) कल्पना की थी कि पूर्वाचार्य का यह कोई प्राचीन प्रबन्ध रहा होगा जिस पर से राजवार्तिक में भी वे कारिकायें उद्‌धृत की गई हैं। परन्तु, यह 'एत्तिएण पबन्धेण' पद जयधवला में उक्त प्रसंग में ही नहीं, और बीसों जगह आया

है। इसके सिवाय वीरसेन उमास्वति के दूसरे ग्रन्थ 'प्रशमरति' से भी परिचित थे। क्योंकि उन्होंने जयधवला (पृ० ३६९) में 'अत्रोपयोगी श्लोकः' कहकर 'प्रशमरतिकी २५ वीं कारिका उद्धृत की है।

५ अमृतचन्द्रने अपने तत्त्वार्थसार (पद्यबद्ध तत्त्वार्थसूत्र) में भी भाष्यकी उक्त कारिकाओं में से ३० कारिकाएँ नम्बरों को कुछ इधर उधर करके ले ली हैं और मुद्रित प्रति के पाठपर यदि विश्वास किया जाय तो उन्होंने उन्हें 'उक्तं च' न रहने देकर अपने ग्रन्थ का ही अंश बना लिया है। अमृतचन्द्र विक्रम की ग्यारहवीं सदी के लगभग हुए हैं और वे भी भाष्य से या उसकी उक्त कारिकाओं से परिचित थे।

६ अकलंक और वीरसेन के समान, उनसे भी पहले के पूज्यपाद देवनन्दि के समक्ष भी तत्त्वार्थभाष्य रहा होगा। यद्यपि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि में कहीं भाष्य का विरोध आदि नहीं किया है, फिर भी जब हम भाष्य और सर्वार्थसिद्धि को आमने सामने रखकर देखते हैं तब दोनों के वाक्य के वाक्य, पद के पद एक से मिलते चले जाते हैं—

भाष्य

१. सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः। तं पुरस्ताल्लक्षणतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेक्ष्यामः। शास्त्रानुपूर्वी विन्यासार्थं तुद्देशमात्रमिदमुच्यते।—१, १
२. चक्षुषा नो इन्द्रियेण च व्यंजनावग्रहो न भवति।—१, १९
३. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः।—१,५
४. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिन ऋद्धियशस्कामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराश्छेदशबलयुक्ता निर्ग्रन्था बकुशाः। कुशीला

है और सब जगह उससे केवल यही सूचित किया है कि इतने प्रबन्ध या सूत्रभाग के द्वारा या इतने कथन से अमुक विषय का निरूपण किया गया। उक्त ३२ कारिकाओं के बाद आये हुए उक्त पद का यही अर्थ वहाँ ठीक बैठता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता।

१. तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के कर्त्ता सिद्धसेन गणिने 'प्रशमरति' को उमास्वाति वाचक का ही माना है—"यतः प्रशमरतौ अनेनैवोक्तम्" "वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ उपात्तम्।" अ० ५/६ तथा ९/६ की भाष्य-वृत्ति। और प्रशमरति की १२० वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर श्रीजिनदास महत्तर ने निशीथचूर्णि में उद्धृत की है और जिनदास महत्तर विक्रम की आठवीं सदी के हैं।

द्विविधाः प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च । तत्र प्रतिसेवनाकुशीलाः नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अनियतक्रियाः कथंचिदुत्तरगुणेषु विराधयन्तश्चरन्ति ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । येषां तु संयतानां सतां कथंचित्संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः ।—९, ४८

५. लिङ्गं द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं च । भावलिङ्गं प्रतीत्य सर्वे पंचनिर्ग्रन्था भावलिङ्गे भवन्ति द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ।—९, ४९

६. कषायकुशीलो द्वयोः परिहारविशुद्धौ सूक्ष्मसाम्पराये च । निर्ग्रन्थस्नातकावेकस्मिन् यथाख्यातसंयमे । श्रुतम्—पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः कषायकुशील-निर्ग्रन्था चतुर्दशपूर्वधरौ । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । श्रुतापगतः केवली स्नातक इति । प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद्बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति ।—९, ४९

सर्वार्थसिद्धि

१. सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद्विस्तरेण निर्देक्ष्यामः । उद्देशमात्रं त्विदमुच्यते । १, १

२. चक्षुषा अनिन्द्रियेण च व्यंजनावग्रहो न भवति । १, १९

३. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ।—१, ५

४. नैर्ग्रन्थ्यं प्रति प्रस्थिता अखंडितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोहशबलयुक्ता बकुशाः.....। कुशीला द्विविधाः—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति । अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः । वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतंत्राः कषायकुशीलाः ।—९, ४७

५. लिङ्गं द्विविधं—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति । भावलिङ्गं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः ।—९, ४७

६. कषायकुशीला द्वयोः संयमयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे सन्ति। श्रुतं-पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः । कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः । स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः । प्रतिसेवना-पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति ।—९,४७

विशेष उदाहरणों के लिए देखो डा० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री के लेख ।

७. भाष्य की लेखन शैली भी सर्वार्थसिद्धि से प्राचीन है। वह प्रसन्न और गंभीर होते हुए भी दार्शनिकता की दृष्टि से कम विकसित और कम परिशीलित है। संस्कृत के लेखन और जैनसाहित्य में दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, वह विकास भाष्य में नहीं दिखाई देता।[1] अर्थ की दृष्टि से भी सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन मालूम होती है। जो बात भाष्य में है, सर्वार्थसिद्धि में उसको विस्तृत करके और उस पर अधिक चर्चा करके निरूपण किया गया है। व्याकरण और जैनेतर दर्शनों की चर्चा भी उसमें अधिक है। जैन परिभाषाओं का जो विशदीकरण और वक्तव्य का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है, वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा उसमें तार्किकता अधिक है और अन्य दर्शनों का खंडन भी जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि से भाष्य को प्राचीन सिद्ध करती हैं[2]।

इस तरह तत्वार्थभाष्य पूज्यपाद, अकलंकदेव, वीरसेन आदि से पहले का है और उससे उक्त सभी आचार्य परिचित थे। उन्होंने उसका किसी न किसी रूप में उपयोग भी किया है और उसकी यह प्राचीनता स्वोपज्ञता का ही समर्थन करती है।

स्वोपज्ञभाष्य की आवश्यकता

तत्त्वार्थ जैसे संक्षिप्त सूत्र-ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ भाष्य होना ही चाहिए। क्योंकि एक तो जैनदर्शन का यह सबसे पहला संस्कृतबद्ध सूत्र-ग्रन्थ है, जो अन्य दर्शनों के दार्शनिक सूत्रों की शैली पर रचा गया है। जैनधर्म के अनुयायी इस संक्षिप्त सूत्र-पद्धति से पहले परिचित नहीं थे। वे भाष्य की सहायता के बिना उससे पूरा लाभ नहीं उठा सकते थे। दूसरे इसकी रचना का एक उद्देश्य इतर दार्शनिकों में भी जैनदर्शन की प्रतिष्ठा करना था। इसलिये भी भाष्य आवश्यक है।

सूत्रकार को यह चिन्ता रहती है कि यदि स्वयं अपने सूत्रों का भाष्य नहीं किया जायगा तो आगे लोग उनका अनर्थ कर डालेंगे। पाटलिपुत्र में विहार करते हुए उन्होंने अपने इस भाष्य-ग्रन्थ की रचना की थी, इसलिए वे आर्य चाणक्य या विष्णुगुप्त के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र (सूत्र

---

१. उदाहरण के लिए देखो अ० १/२, १/१२, १/३२, और ३/१ सूत्रों का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

२. देखो, हिन्दी तत्त्वार्थ की भूमिका, पृ० ८६–८८

और स्वोपज्ञ भाष्य) से अवश्य परिचित होंगे, जो पाटलीपुत्र में ही निर्माण किया गया था और जिसके अन्त में कहा है कि—प्रायः सूत्रों से भाष्यकारों की विप्रतिपत्ति या विरोध देखकर—सूत्रकार का अभिप्राय कुछ था और भाष्यकारों ने कुछ लिख दिया, यह समझ कर, विष्णुगुप्त ने स्वयं सूत्र बनाये और स्वयं ही भाष्य लिखा[1]। ऐसी अवस्था में उमास्वातिका स्वयं ही भाष्य निर्माण करने में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

अपने ग्रन्थों पर इस तरह के स्वोपज्ञ भाष्य लिखने के और भी उदाहरण हैं। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन उमास्वाति से पहले हुए हैं[2]। उन्होंने अपने ग्रन्थ पर 'विग्रहव्यावर्त्तिनी' नामक व्याख्या लिखी हैं। मूल ग्रन्थ कारिकाओं में है जो सूत्र की ही भाँति अधिक बातों को थोड़े शब्दों में कहलाने वाली और पद्य होने से कण्ठस्थ करने योग्य होतो हैं। इसी तरह वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' है जो तत्त्वार्थ जैसा हो है और उस पर भी स्वोपज्ञ भाष्य है[3]।

अपने ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका लिखने की यह पद्धति जैनपरम्परा में भी रही है। पूज्यपाद ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र-न्यास (अनुपलब्ध), जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य पर व्याख्या, शाकटायन ने अपने व्याकरण-सूत्रों पर अमोघवृत्ति और अकलंकदेव ने अपने लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय पर स्वोपज्ञ वृत्तियों को रचना की।"

तत्त्वार्थसूत्र के कुछ सूत्रों का दिगम्बर मान्यताओं से विरोध—

तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य मूलपाठ के ही कुछ सूत्र स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा की मान्यताओं के भी विरोध में जाते हैं। अग्रिम पंक्तियों में हम इस सम्बन्ध में कुछ विस्तृत चर्चा करेंगे—

(१) सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्र ३ में देवों के पाँच प्रकारों के आवान्तर भेदों का विवरण दिया गया है। इसमें वैमानिक देवों के बारह प्रकारों का उल्लेख हुआ है।[4] जबकि दिगम्बर परम्परा वैमानिक देवों के सोलह भेद मान्य करती हैं। दिगम्बर परम्परा द्वारा

---

१. दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं प्रायः सूत्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥

२. नागार्जुन का समय वि० सं० २२३–२५३ निश्चित किया गया है।

३. विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय वि० सं० २९८ है।

४. दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः। —तत्त्वार्थसूत्र ४।३

मान्य पाठ के इसी अध्याय के उन्नीसवें सूत्र में वैमानिक देवों के सोलह प्रकारों का नाम सहित उल्लेख भी हुआ है।[1] दिगम्बर परम्परा के मान्य इस पाठ में जहाँ चतुर्थ अध्याय का तीसरा सूत्र श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वैमानिक देवों के बारह प्रकारों की ही चर्चा करता है, वहीं उन्नीसवाँ सूत्र दिगम्बर परम्परा के अनुसार सोलह देवलोकों के नामों का उल्लेख करता है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य सूत्र पाठ में ही एक अन्तर्विरोध परिलक्षित होता है। चतुर्थ अध्याय के इन तीसरे और उन्नीसवें सूत्र का यह अन्तर्विरोध विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि एक स्थान पर तो अपनी परम्परा के अनुरूप पाठ को संशोधित कर लिया गया है और दूसरे स्थान पर असावधानीवश वह यथावत् रह गया है। किन्तु एक स्थान पर प्रयत्न पूर्वक संशोधन किया गया हो और दूसरे स्थान पर उसे असावधानीवश छोड़ दिया गया हो—यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती हैं। सम्भावना यही है कि दिगम्बर आचार्यों को यह सूत्र या तो इसी रूप में प्राप्त हुए हों अथवा उस परम्परा के सूत्र हों जो सोलह स्वर्ग मानकर भी वैमानिक देवों के बाहर प्रकार ही मानती हो—हो सकता है यह यापनीय मान्यता हो। दिगम्बर टीकाकारों ने इस सन्दर्भ में विशेष कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है। वे मात्र इसे इन्द्रों की संख्या मानकर सन्तोष करते हैं[2]। जबकि यह सूत्र इन्द्र की संख्या का सूचक या इन्द्रों के आधार पर देवों का वर्गीकरण नहीं है क्योंकि यदि इन्द्रों की संख्या या इन्द्रों के आधार पर देवों के वर्गीकरण का सूचक होता तो ज्योतिषी में केवल दो ही इन्द्र हैं फिर पाँच कैसे कहे गये ? अतः स्पष्ट है कि यह सूत्र दिगम्बर मान्यता के अनुरूप ही नहीं है।

(२) दूसरा जो सूत्र है वह पाँचवें अध्याय का बाईसवाँ सूत्र है। श्वेताम्बर परम्परा मान्य सूत्रपाठ में 'कालश्चेके' यह पाठ मिलता है, जबकि दिगम्बर परम्परा में 'कालश्च' ऐसा पाठ मिलता है। द्रव्यों की चर्चा के पश्चात् अन्त में यह सूत्र आया है इससे ऐसा लगता कि ग्रन्थकार काल को द्रव्य मानने के सन्दर्भ में तटस्थ दृष्टि रखता होगा। श्वेताम्बर

---

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
१. सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्र
१२ १३ १४ १५ १६
शतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोः। —तत्त्वार्थसूत्र ४।१९

२. देखें—तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका ४।३

परम्परा में काल द्रव्य है या नहीं है, इस प्रश्न को लेकर दो मान्यताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उस काल में कुछ विचारक काल को स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करते हैं और कुछ विचारक काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर जीव एवं अजीव द्रव्यों की पर्याय का सूचक मानते थे। यदि तत्त्वार्थसूत्र की रचना दिगम्बर परम्परा के अनुसार होती या दिगम्बर आचार्यों ने अपना पाठ बनाया होता तो द्रव्यों की विवेचना के प्रसंग में भी काल का उल्लेख आ जाना चाहिए था। जहाँ अजीव काया का उल्लेख किया वहीं काल का भी उल्लेख होना था। इससे स्पष्ट लगता है कि ग्रन्थकार ने उस मान्यता का संग्रह करने के लिए कि कुछ दार्शनिक काल को भी द्रव्य मानते हैं, इस सूत्र की रचना की। अतः 'कालश्चेके' यहाँ मूल सूत्र रहा होगा जबकि आगे चलकर काल को एक द्रव्य मान लिया गया तो सूत्रपाठ में से 'एके' पाठ अलग कर दिया—किन्तु यह यापनीय परम्परा में हुआ होगा—ऐसी सम्भावना है, क्योंकि यदि पूज्यपाद इसे बदलते तो वे इसका स्थान भी बदल सकते थे। वस्तुतः चाहे मूल पाठ में 'कालश्च' हो या कालश्चेके हो, यह सूत्र दिगम्बर मान्यता से तत्त्वार्थ की भिन्नता सूचित करते हुए आगमिक परम्परा से निकटता सूचित करता है। क्योंकि जहाँ भगवती एवं प्रज्ञापना में काल को पुद्गल और जीव की पर्याय कहा गया वहीं उत्तराध्ययन में उसे स्वतंत्र द्रव्य कहा गया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। उसकी पुनरावृत्ति निरर्थक है।

(३) तीसरे तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय का ग्यारहवाँ सूत्र 'एकादशजिने' भी जिसे दोनों ही पाठों में मान्य किया गया है, दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है। क्योंकि दिगम्बर परम्परा केवली या जिन में परिषहों का सद्भाव नहीं मानती है। जब केवली में कवलाहार ही नहीं स्वीकार किया गया, तो फिर क्षुधा-पिपासा जैसे परिषह उसमें संभव ही नहीं होंगे। दिगम्बर टीकाकार भी इस सूत्र को अपने मत के विरुद्ध मानते हैं और इसलिए वे 'न सन्ति' का अध्याहार करके उसे अपने मतानुकूल करना चाहते हैं, जबकि मूलसूत्र स्पष्ट रूप से उनके सद्भाव का संकेत करता है। इस सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के वरिष्ठ विद्वान् डॉ० हीरालाल जी के विचार द्रष्टव्य हैं—"कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूख-प्यास आदि की वेदना का निषेध किया है। पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने सबलता से कर्मसिद्धान्तानुसार यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदय जन्य क्षुधा-पिपासादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं (अध्याय ९ सूत्र ८-१७) सर्वार्थ-

सिद्धिकार एवं राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का प्रभाव जर्जरित हो जाता है इससे वे वेदनाएँ केवली के नहीं होतीं। पर कर्मसिद्धान्त से यह बात सिद्ध नहीं होती। मोहनीय के अभाव में रागद्वेषजन्य परिणति का अभाव अवश्य होगा, पर वेदनीय जन्य वेदना का अभाव नहीं हो सकेगा। यदि वैसा होता तो फिर मोहनीय कर्म के अभाव के पश्चात् वेदनीय का उदय माना ही क्यों जाता ? वेदनीय का उदय सयोगी और अयोगी गुणस्थान में भी आयु के अन्तिम समय तक बराबर बना रहता है। इसके मानते हुए तत्सम्बन्धी वेदनाओं का अभाव मानना शास्त्रसम्मत नहीं ठहरता। दूसरे समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा ९३ में वीतराग के भी सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार किया।"[1] 'एकादशेजिने' सूत्रपाठ की उपस्थिति स्पष्टतः इस तथ्य की सूचक है कि यह ग्रन्थ मूलतः दिगम्बर परम्परा का नहीं है, साथ ही यह सूत्र इस सत्य को भी उद्घाटित करता है कि दिगम्बर परम्परा में मान्य सूत्रपाठ भी उनके द्वारा संशोधित नहीं है अन्यथा वे आसानी से मूल में भी 'एकादशे जिने न संति' पाठ कर सकते थे। इसका तात्पर्य यह है कि यह पाठ उन्हें यापनीयों से प्राप्त हुआ था। यह स्पष्ट है कि यापनीय श्वेताम्बरों के समान 'जिन' में एकादश परिषह सम्भव मानते हैं, क्योंकि वे केवली के कवलाहार के समर्थक हैं।

(४) तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर परम्परा मान्य पाठ में भी निग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ऐसे पाँच विभाग किये गये हैं। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील की विवेचना करते हुए तत्त्वार्थराजवार्तिककार ने उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र का सद्भाव माना है। सामायिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्रों की मान्यता मूलतः यापनीय और श्वेताम्बर है। यापनीयों के प्रभाव से ही आगे यह दिगम्बर परम्परा में मान्य हुई है। पुनः बकुश के तत्त्वार्थराजवार्तिक में जो दो प्रकार बताये गये हैं। उनमें उपकरण बकुश को विविध, विचित्र परिग्रह युक्त तथा विशेष और बहु उपकरणों का आकांक्षी कहा गया है। केवल कमण्डल और पिच्छी रखने वाले दिगम्बर मुनि के सन्दर्भ में यह कल्पना उचित नहीं बैठती है। यह विविध और विचित्र परिग्रह की कल्पना केवल उन्हीं निर्ग्रन्थों के सन्दर्भ में हो सकती है, जो पिच्छी और

१. देखे—दिगम्बर जैनसिद्धान्तदर्पण (द्वितीय अंश), दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई १९४४ पृ० २०।

कमण्डलु के अतिरिक्त भी अन्य उपकरण रखते होंगे। अतः यह सूत्र भी दिगम्बर परम्परा के विरोध में जाता है।

(५) इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का 'मूर्च्छा परिग्रह' नामक सूत्र भी मूलतः श्वेताम्बर मान्य आगम दशवैकालिक के आधार पर बना हुआ प्रतीत होता है। दशवैकालिक की तत्त्वार्थ से प्राचीनता सर्वत्र सिद्ध है। तत्त्वार्थ का यह सूत्र दशवैकालिक के 'न सा परिग्गहो वुत्तो' मुच्छा परिग्गहोवुत्तो'[1] के आधार पर लिखा गया है। मूर्च्छा परिग्रह यह बात दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं है, उसके अनुसार तो मात्र मूर्च्छा ही नहीं, वस्तु भी परिग्रह है। यदि तत्त्वार्थसूत्रकार दिगम्बर परम्परा का होता तो भाव परिग्रह के साथ द्रव्य परिग्रह की भी चर्चा करता वह 'मूर्च्छा परिग्रह' के साथ-साथ यह भी उल्लेख करता कि वस्तु भी परिग्रह है। किन्तु यह सूत्र तो वस्त्र-पात्र वाद पोषण के लिए रास्ता साफ कर देता है। यह सूत्र उसी परम्परा का हो सकता है, जिसमें किसी सीमा तक संयमोपकरण के रूप में वस्त्र-पात्र की परम्परा का पोषण हो रहा था और उन्हें परिग्रह नहीं माना जा रहा था।

तत्त्वार्थ और उसके भाष्य में 'मूर्च्छा परिग्रह' नामक सूत्र स्पष्ट रूप से तत्त्वार्थ की परम्परा का निर्धारण कर देता है। सर्वप्रथम तो यह सूत्र दशवैकालिक का अनुसरण करते हुए परिग्रह के भाव पक्ष को प्रधानता देता है और द्रव्य (वस्तु) पक्ष को गौण कर देता है। निर्ग्रन्थ परम्परा में अपरिग्रह और अचेलता पर अति बल था, अतः सामान्य रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि संयमोपकरण के रूप में प्रतिलेखन एवं वस्त्र-पात्र भी परिग्रह है अतः उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। एक ओर अहिंसा के परिपालन लिए प्रतिलेखन (रजोहरण/पिच्छी) का ग्रहण आवश्यक था तो दूसरी ओर बीमार और वृद्धों की परिचर्या के लिए पात्र की आवश्यकता हुई। पुनः एक ही घर से सम्पूर्ण आहार ग्रहण करने पर भी या तो उसे पुनः भोजन बनाना पड़ सकता था या फिर भूखा रहना होगा—दोनों स्थिति में हिंसा थी—इसी प्रकार यदि वृद्ध, ग्लान, रोगी आदि की परिचर्या नहीं की जाती तो करुणा की समाप्ति और हिंसा में भागीदार बनने का प्रश्न था। इन्हीं कारणों से पात्र आवश्यक बना। पात्र के साथ पात्र की सफाई तथा पात्र को ढकने के लिए वस्त्र की आवश्यकता प्रतीत हुई। पुनः भोजन, पानी एवं शौच आदि के लिए अलग-अलग पात्र

---

१. दशवैकालिक।

की आवश्यकता प्रतीत होने पर झोली आयी। मथुरा के अंकनों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शती में नग्नता को मान्य रखते हुए भी इतना परिग्रह आ चुका था। जब अहिंसा की प्राथमिकता से संयमोपकरण के रूप में निर्ग्रन्थ संघ में प्रतिलेखन, वस्त्र और पात्र मान्य हुए तब वस्तुमात्र परिग्रह हैं यह परिभाषा बदलने की आवश्यकता हुई होगी और उसी में परिग्रह की यह नवीन परिभाषा आई होगी—संयमोपरकरण परिग्रह नहीं है, मूर्च्छा ही परिग्रह है—दशवैकालिक के काल तक तो यह सब हो चुका था और तत्त्वार्थसूत्र में उसी का अनुसरण किया गया है।

क्या तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञभाष्य श्वेताम्बरों के विरुद्ध है ? :—

दिगम्बर परम्परा के अनेक विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य की श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों से असंगति सिद्ध कर यह बताने का प्रयास किया है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य मूलतः श्वेताम्बर परम्परा का नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा का निर्धारण करने हेतु उनके तर्कों पर भी विचार करना आवश्यक है।

(१) आदरणीय पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने मोक्षमार्ग के प्रतिपादन के सन्दर्भ में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य की श्वेताम्बर मान्य आगम से असंगति दिखाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है, कि तत्त्वार्थ की त्रिविध साधना मार्ग की परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों में अनुपलब्ध है, उनमें चतुर्विध मोक्षमार्ग की परम्परा है, जबकि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में सर्वत्र त्रिविध साधना मार्ग की परम्परा पाई जाती है अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है; वे लिखते हैं कि—"श्वेताम्बरीय आगम में मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं और उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप इस क्रम से निर्देश किया है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन की निम्न गाथाओं से प्रकट है—

मोक्खमग्गगइं तच्च सुणेहजिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं णाणदंसण लक्खणं।
नाणं च दंसणं चेवचरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्तिपण्णत्तो जिणेहिं वरदसिहिं ॥

परन्तु (तत्त्वार्थसूत्र के) श्वेताम्बर सूत्रपाठ में दिगम्बर सूत्रपाठ की तरह तीन कारणों का दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के क्रम से निर्देश है जैसा

कि निम्नसूत्र से प्रकट है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः—१।१ यह सूत्र श्वेताम्बर आगम के साथ पूर्णतया संगत नहीं है। वस्तुतः यह दिगम्बर सूत्र है और इसके द्वारा मोक्षमार्ग के कथन की उस दिगम्बर शैली को अपनाया गया है, जो कुन्दकुन्दादि के ग्रन्थों में सर्वत्र पाई जाती है।[1] मूर्धन्य विद्वान् आदरणीय जुगल किशोर जी मुख्तार को यह भ्रान्ति कैसे हो गई कि श्वे० मान्य आगमों में मात्र चतुर्विध (चउकारण संजुत्तं) मोक्षमार्ग का विधान है—सम्भवतः उन्होंने 'तत्त्वार्थ-जैनागम समन्वय' नामक ग्रन्थ को देखकर ही यह धारणा बना ली और इस प्रसंग में श्वेताम्बर मान्य आगमों को देखने का कष्ट ही नहीं उठाया। जिस उत्तराध्ययन के २८ वें अध्याय का प्रमाण उन्होंने दिया यदि उसे भी पूरी तरह देख लिया होता तो इस भ्रान्त धारणा के शिकार न होते। उत्तराध्ययन सूत्र के ही इसी अध्ययन की गाथा क्रमांक तीस में त्रिविध साधना मार्ग का स्पष्ट उल्लेख है। वस्तुतः श्वेताम्बर आगमों में द्विविध से लेकर पंचविधरूप में मोक्षमार्ग का विवेचन है—

द्विविध—

'णाणकिरियाहिं मोक्खो'—
विज्जाचरण पमोक्खो।—सूत्रकृतांग
नाणेण बिणा करणं करणेण बिणा ण तारयं णाणं।
—चन्द्रावेध्यक ७३

त्रिविध—

णाण दंसण चरित्ताइं पडिसेविस्सामि—इसिभासयाइं, २३/२
आरियं णाणं साहू आरियं साहु दंसणं
आरियं चरणं साहू तम्हा सेवह आरियं।—वही १९/६
तिविहा आराहणा पन्नता तं जहा
णाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा
—स्थानांग, ३/४/१९८

चतुर्विध—

दंसण णाण चरित्ते तवे य कुण आपमायं ति।
—मरणविभक्ति १२६

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन की गाथा २,३ एवं ३५ में भी चतुर्विध मोक्ष मार्ग का कथन हुआ है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, ले० जुगल किशोर मुख्तार पृ० १३३

वस्तुतः उमास्वाति का तत्त्वार्थ की रचना में मुख्य प्रयोजन संक्षेप में या सूत्र रूप में जैन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना था, अतः उन्होंने अनावश्यक विस्तार से बचते हुए सूत्ररूप में, फिर भी कोई महत्त्वपूर्ण पक्ष न छूटे, इस दृष्टि से विवेचन किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने त्रिविध मोक्षमार्ग का विवेचन किया। तत्त्वार्थ को श्वेताम्बरमान्य आगमों से असंगति तो तब मानी जाती, जब आगमों में त्रिविध साधना का उल्लेख ही नहीं होता। जब आगमों में त्रिविध मोक्ष मार्ग के सन्दर्भ उपलब्ध हैं साथ ही दर्शन, ज्ञान और चरित्र का मोक्ष के हेतु के रूप में उल्लेख है, जब तत्त्वार्थ और आगम में असंगति का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि आगमों में मोक्ष के चार हेतुओं का उल्लेख होने में ही उन्हें असंगति दृष्टिगत होती है तो ऐसी असंगति तो स्वयं कुन्दकुन्द में ही तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और तत्त्वार्थ सूत्र में भी दिखाई देती है—देखिए कुन्दकुन्द स्वयं एवं दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थकार भी उत्तराध्ययन के समान चतुर्विध मोक्ष मार्ग का वर्णन कर रहे हैं—

णाणेण दंसणेण तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
होहदि परिनिव्वाणं जीवाणं चरितसुद्धाणं॥

—सीलपाहुड, ११

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो॥

—दर्शनपाहुड, ३०

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोपहं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो॥

—दर्शनपाहुड, ३२

दंसणणाणचरित्तं तवे य पावंति सासणे भणियं।
जो भविऊण मोक्खं तं जाणह सुदह माहप्पं॥

—अंगप्रज्ञप्ति, ७६

यहीं नहीं पंचविध मार्ग का उल्लेख भी आगमानुसार कुन्दकुन्द ने शीलप्राभृत में किया है—

सम्मत णाण दंसण तव वीरियं पंचयारमप्पाणं।
जलणो वि पवण सहिदो डहंति पोरायण कम्मं॥

—सीलपाहुड, ३

यदि उत्तराध्ययन में दो गाथाओं में चतुर्विध साधनामार्ग का उल्लेख होने से एवं तत्त्वार्थसूत्र में त्रिविध साधना मार्ग उल्लेख होने से तत्त्वार्थसूत्र

श्वेताम्बर नहीं हो सकता तो फिर कुन्दकुन्द में तीन गाथाओं में चतुर्विध मोक्षमार्ग-प्रतिपादन होने पर भी यह कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ और उनके ग्रन्थों से निर्मित कैसे हो सकता है ? वस्तुतः ऐसा सोचना हमारी साम्प्रदायिक बुद्धि का परिणाम है। वास्तविकता तो यह है कि आगमों में मोक्षमार्ग के प्रतिपादन की विविध शैलियाँ रही हैं और उमास्वाति ने उनमें से मध्यमार्ग के रूप में त्रिविध साधना मार्ग की शैली को अपनाया।

(२) पं० जुगल किशोर जी मुख्तार ने तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य का आगम से विरोध दिखाते हुए दूसरा तर्क यह दिया है कि सूत्र और भाष्य दोनों में जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर और मोक्ष ऐसे सात तत्त्वों का निर्देश है। जबकि श्वेताम्बर आगमों में तत्त्व या पदार्थ नौ बतलाये गये हैं। स्थानांगसूत्र के नवें स्थान में नौ पदार्थों का तथा उत्तराध्ययन के २८वें अध्याय में नौ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। इसके आधार पर वे लिखते हैं कि "सात तत्त्वों के कथन की शैली श्वेताम्बर आगमों में हैं ही नहीं।"[1] इससे उपाध्याय मुनि आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम के साथ जो समन्वय उपस्थित किया है उसमें वे स्थानांग के उक्त सूत्र को उद्धृत करने के अलावा कोई भी ऐसा निर्देश नहीं कर सके जिसमें सात तत्त्वों की कथन शैली का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। सात तत्त्वों के कथन की यह शैली दिगम्बर है—दिगम्बर सम्प्रदाय में सात तत्त्वों और नौ पदार्थों का अलग-अलग रूप से निर्देश किया गया है।[2] अपने इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए मुख्तार जी भावप्राभृत से 'नवम-पयत्थाइं सत्त तच्चाइं' नामक उद्धरण भी उपस्थित करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त भी दर्शनपाहुड में षट्द्रव्य, नवपदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व का उल्लेख मिलता है, किन्तु इस आधार पर यह कल्पना कर लेना कि सात तत्त्वों के विवेचन की शैली दिगम्बर और नव तत्त्वों की शैली श्वेताम्बर है, समुचित नहीं है। क्योंकि पंचास्तिकाय में स्पष्ट रूप से हमें नौ अर्थों का उल्लेख मिलता है। अर्थ, पदार्थ, तत्त्व आदि में कोई विशेष अर्थ भेद नहीं है। क्या सात तत्त्वों में पुण्य-पाप का योग हो जाने पर वे पदार्थ हो जायेंगे ? उत्तराध्ययन में तो उन्हें नव तत्त्व ही कहा गया है।[4]

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पृ० १३४।
२. वही, पृ० १३४।
३. भावपाहुड, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा ९५।
४. उत्तराध्ययन सूत्र।

प्रारम्भ में नव तत्त्वों की ही अवधारणा प्रमुख रही है। नव तत्त्वों की अवधारणा में सुविधा यह होती थी कि पुण्य और पाप का किसी एक में अन्तर्भाव करना आवश्यक नहीं था। वस्तुतः पुण्य और पाप मात्र आश्रव ही नहीं हैं जैसा कि उमास्वाति ने मान लिया है। वे आश्रव, बन्ध और निर्जरा तीनों के साथ जुड़े हुए थे। पुण्य और पाप का सम्बन्ध न केवल आश्रव और बन्ध से ही है अपितु उनका सम्बन्ध कर्मफल-विपाक अर्थात् कर्म-निर्जरा से भी है। इसलिए आगमकारों ने नव तत्त्वों की ही अवधारणा को प्रमुखता दी। चूंकि उमास्वाति पाप और पुण्य की चर्चा आश्रव के प्रसंग में अलग से कर रहे थे[2] इसलिए उन्होंने प्रारम्भ में सात तत्त्वों की ही चर्चा की। लेकिन सात और नव तत्त्वों की इस चर्चा को सैद्धान्तिक मतभेद नहीं माना जा सकता। क्योंकि सात मानकर भी उन्होंने पुण्य और पाप को स्वीकार तो किया ही है, चाहे उन्होंने उनकी आश्रव के भेद रूप में चर्चा की हो। पुनः तत्त्वार्थ सूत्रशैली का ग्रन्थ है अतः उससे अनावश्यक विस्तार से यथासम्भव बचने का प्रयास किया गया है। चतुर्विध मोक्षमार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्षमार्ग, नव तत्त्व के स्थान पर सात तत्त्व, सात नयों के स्थान पर मूल पाँच नय, तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के बीस कारणों के स्थान पर सोलह कारण आदि तथ्य यही सूचित करते हैं कि उमास्वाति समास (संक्षिप्त) शैली के प्रस्तोता थे—व्यास (विस्तार) शैली के नहीं। किन्तु इस आधार पर उमास्वाति दिगम्बर हैं—श्वेताम्बर नहीं, यह कहना उचित नहीं है। फिर तो कोई यह भी तर्क दे सकता है कि उमास्वाति ने पाँच नयों की चर्चा की है क्योंकि दिगम्बर परम्परा में पाँच नयों की शैली नहीं है अतः उमास्वाति दिगम्बर नहीं है।

(३) तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य की श्वेताम्बर आगमों से भिन्नता दिखाते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि दिगम्बर विद्वानों ने एक प्रमाण यह भी प्रस्तुत किया है कि तत्त्वार्थसूत्र में और उसके भाष्य में अधिगम के निम्न ८ अनुयोग द्वारों की चर्चा है[1]—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। इसके विपरीत श्वेताम्बर मान्य अनुयोगद्वार सूत्र में अभिगम के ९ अनुयोगद्वारों की चर्चा है।[2] इसमें उपरोक्त

१. सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र १।८

इनकी विवेचना हेतु देखे—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य १।८

२. अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा सन्तपथपरूवणा १ दव्वपमाण च २ खेत्त

८ के अतिरिक्त 'भाग' नामक एक अनुयोगद्वार और है, किन्तु यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो इसमें संख्या के स्थान पर द्रव्य-प्रमाण ऐसा नाम उपलब्ध होता है। यह सूत्र दिगम्बर परम्परा का समर्थक है, यह सिद्ध करने के लिए आदरणीय मुख्तार जी यह तर्क भी देते हैं कि षट्खण्डागम में इन आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा उपलब्ध होती है।[1] षट्खण्डागम में और तत्त्वार्थसूत्र में आठ अनुयोग द्वारों की चर्चा होने मात्र से तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो जाता है। प्रथम तो यह कि षट्खण्डागम स्वयं दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है। इस सन्दर्भ में हम विशेष चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। पुनः उन्होंने यह निर्णय कैसे कर लिया कि श्वेताम्बर आगमों में आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा ही नहीं है। अनुयोगद्वार सूत्र में जहाँ नैगम नय की अपेक्षा से चर्चा की गई है वहाँ उपरोक्त नौ अनुयोगद्वारों की चर्चा है[2] तथा जहाँ संग्रह नय की अपेक्षा से चर्चा की गई है वहाँ आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा है।[3] पुनः हम पूर्व में ही प्रतिपादित कर चुके हैं कि तत्त्वार्थ सूत्रात्मक शैली का ग्रंथ है, अतः उसमें अनावश्यक विस्तार से बचने का प्रयत्न किया गया है और यह बात हमें उसकी तत्त्व-विवेचना, मोक्ष-मार्ग विवेचना, तीर्थंकर नामकर्म विवेचना, अनुयोगद्वार विवेचना आदि सभी में उपलब्ध होती है। जहाँ उसमें आगमों में वर्णित संख्या का संकोच किया है। पुनः आगमों की यह शैली रही है कि उन्होंने विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न प्रकार के विवेचन किये हैं। जैसे—प्रस्तुत प्रसंग में ही जहाँ श्वेताम्बरमान्य आगम नैगम-व्यवहारनय से चर्चा करते हैं वहाँ नौ अनुयोगद्वारों की और जहाँ संग्रहनय की अपेक्षा से चर्चा करते हैं वहाँ

---

३ फुसणा य ४। कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुतव्व ९

—अनुयोगद्वार सूत्र, सम्पादक मधुकर मुनि, सूत्र १०५

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार। एदेसिं चोद्दसाहं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोग-द्दाराणि णायव्वाणि भवंति-त्तं जहा—संतपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो, अल्पा-बहुगाणुगमो चेदि।

—षट्खण्डागम १।१।७ (खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, सूत्र ७).

२. अनुयोगद्वारसूत्र, सम्पादक मधुकर मुनि, सूत्र १०५, पृ० ६८

३. वही, सूत्र १२२, पृ० ८३

आठ अनुयोग द्वारों की चर्चा करते हैं। पुनः हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अनुयोगद्वार सूत्र निश्चित ही तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य से किञ्चित् परवर्ती है और इसलिए उसमें ऐसा विकास सम्भव है। पुनः अनुयोगद्वारों की यह संख्या विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न रही है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यक् दर्शन के सन्दर्भ में आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा हुई है, जबकि अनुयोगद्वार सूत्र में यह चर्चा द्रव्य के सन्दर्भ में है। सम्यक् दर्शन जीव के किसी भाग विशेष में नहीं होता है अतः उसमें 'भाग' की चर्चा नहीं है। जबकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के किसी भाग विशेष में रह सकता है अतः द्रव्य की चर्चा के प्रसंगमें 'भाग' नामक अनुयोग (अनुगम) की चर्चा की गई है। षट्खण्डागम यापनीय आगम है तत्त्वार्थ से उसकी निकटता तत्त्वार्थ को उत्तर भारत की आगमिक धारा का ही ग्रन्थ सिद्ध करती है। षट्खण्डागम के अनुयोगद्वारों के नामों की निकटता तत्त्वार्थ की अपेक्षा अनुयोगद्वार सूत्र के निकट है, यह भी हमें देखना होगा। पुनः विषयों के बदलने के साथ अनुयोगद्वारों की संख्या में भिन्नता के संकेत श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। षट्खण्डागम में ही ग्यारह, सोलह आदि अनुयोग द्वारों की चर्चा भी है और इसमें 'भाग' नामक अनुयोगद्वार, जो श्वेतबांर आगमों में भी उल्लेखित है, मिलता है। प्रसंगानुसार अनुयोगद्वारों की संख्या में भिन्नता होने से तत्त्वार्थ और श्वेताम्बर आगमों में विरोध नहीं माना जा सकता है। दोनों में यदि एक ही प्रसंग में भिन्न-भिन्न संख्या बतायी गयी होती तो ही उनमें विरोध माना जा सकता था।

(४) तत्त्वार्थभाष्य का आगम से विरोध दिखाते हुए पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा यह भी कहा गया है कि जहाँ तत्त्वार्थ भाष्य में लोकान्तिक देवों की संख्या आठ मानी गई है[1] वहाँ श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की संख्या ९ मिलती है किन्तु आदरणीय पण्डितजी ने यह भ्रान्ति व्यर्थ ही खड़ी की है। श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की संख्या ८ और ९ दोनों ही प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। स्थानांग में भी आठवें स्थान में आठ प्रकार के लोकान्तिक देवों की चर्चा

---

१. सर्वार्थसिद्धि सम्पादक, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावना, पृ०, १९ एवं ३३।

है[1] और नवें स्थान में नौ लोकान्तिक देवों की चर्चा है।[2] इसका तात्पर्य यह भी है कि लोकान्तिक देवों की नौ की संख्या एक परवर्ती विकास है। जब नौ की संख्या मान्य हो गई तो किसी श्वेताम्बर आचार्य ने तत्त्वार्थ के मूलपाठ में भी मरुत नाम जोड़ दिया और इस प्रकार तत्त्वार्थ मूल और तत्त्वार्थभाष्य में अन्तर आ गया। तत्त्वार्थसूत्र मूल में यह प्रक्षेप तत्त्वार्थभाष्य की रचना के बाद और सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थभाष्य की टीका के पूर्व किया गया होगा। किन्तु इस सबसे यह सिद्ध नहीं होता है कि भाष्य श्वेताम्बरमान्य आगमों के विरूद्ध है। यदि संख्या के भेद के आधार पर ही आगम विरोध माना जाये फिर तिलोयपण्णत्ति, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में ही लोकान्तिक देवों की २४ संख्या भी मानी गई। फिर तो दिगम्बर परम्परा से भी तत्त्वार्थसूत्र की भिन्नता सिद्ध हो जायेगी। आश्चर्य यह है कि जो 'मरुत' नाम प्रक्षिप्त माना जाता है, उसका उल्लेख तिलोयपण्णत्ति और राजवार्तिक में भी उपस्थित है; इससे भाष्य की सर्वार्थसिद्धि से प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि लोकान्तिक देवों की अवधारणा में एक विकास हुआ है और सर्वार्थसिद्धि भाष्य की अपेक्षा विकास की सूचक है। तिलोयपण्णत्ति में लोकविभाग के कर्त्ता का प्राचीन मत भी उल्लिखित है (८/६३५-६३९)। इसमें नौ लोकांतिक देवों की अवधारणा का संकेत है; क्योंकि इसमें वह्नि के अतिरिक्त आग्नेय नाम अधिक मिलता है। (ज्ञातव्य है कि वर्तमान संस्कृत लोकविभाग-प्राचीन प्राकृत 'लोयविभाय' के आधार पर निर्मित है)। इसका संकेत संस्कृत लोकविभाग की भूमिका में बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने किया है (देखें भूमिका, पृ० ३१) तथा मूल में भी यह संख्या ९ ही वर्णित है (श्लोक १०।३१९) ज्ञातव्य है—आग्नेय (अगिच्चा) यही नाम श्वेताम्बर आगम (स्थानांग ८।४६, ९।३४)

---

१. ऐतेसु णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविधा लोगंतिया देवापण्णत्ता तं जहा—

सारस्सतमाइच्चा वह्नीवरूणा य गद्दतोया य।
तुसिता अव्वावाहा अगिच्चा चेव बोद्धव्वा॥

—स्थानांग—सं० मधुकर मुनि, ८।४६

२. णव देवणिकाया पण्णत्ता तं जहा—

सारस्सयमाइच्चा वण्हीवरूणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा अगिच्चा चेव रिट्ठा य॥

—स्थानांग सं० मधुकर मुनि ९।३४

में भी उपलब्ध है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नौ लोकांतिक देवों की अवधारणा भी प्राचीन ही है और यह दिगम्बर परम्परा (लोक विभाग) में भी मान्य रही है। अतः इस आधार पर तत्त्वार्थसूत्र को आगम-परम्परा से विरोधी माना जाये, तो वह दोनों परम्परा का ही विरोधी सिद्ध होगा। अपनी परम्परा को भी सम्यक् प्रकार जाने बिना विद्वानों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बर सिद्ध करने के प्रयास में ऐसे तर्क देना समुचित नहीं है। जो श्वेताम्बरों में अरिष्ट-नामक लोकान्तिक देवों को मध्य में मानने की अवधारणा है, वह भी तिलोयपण्णत्ति में उद्धृत लोक-विभाग के आचार्य के मत से सहमति रखती है, यद्यपि आशय को समग्र प्रकार से न समझने के कारण तिलोयपण्णत्ति के सम्पादक ने उस मूलपाठ को सम्यक् रूप में नहीं रखा है।

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भाष्य और श्वेताम्बर आगम में विरोध दिखाते हुए एक अन्य तर्क यह दिया है कि "तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय में लोकान्तिक देवोंका निवास स्थान 'ब्रह्मलोक' नाम का पाँचवाँ स्वर्ग बतलाया गया है और 'ब्रह्मलोकालया लोकान्तिका' इस २५वें सूत्र के निम्न भाष्य में यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक में रहने वाले ही लोकान्तिक होते हैं—अन्य स्वर्गों में या उनसे परे ग्रैवेयकादिमें लोकान्तिक नहीं होते—

"ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः।"

ब्रह्मलोक में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट स्थिति दस सागर की और जघन्य स्थिति सात सागर से कुछ अधिक की बतलाई गई, जैसा कि सूत्र नं० ३७ और ४२ और उनके निम्न भाष्यांशों से प्रकट है—

"ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेत्यर्थः।"

"माहेन्द्र परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तवे जघन्या।"

इससे स्पष्ट है कि सूत्र तथा भाष्य के अनुसार ब्रह्मलोक के देवों की उत्कृष्ट आयु दस सागर की और जघन्य आयु सात सागर से कुछ अधिक होती है; क्योंकि लोकान्तिक देवों की आयु का अलग निर्देश करने वाला कोई विशेष सूत्र भी श्वे० सूत्रपाठ में नहीं है। परन्तु श्वे० आगम में लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकार की आयु की

स्थिति आठ सागर को बतलाई है जैसाकि 'स्थानांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के निम्न सूत्र से प्रकट है—

"लोगंतिकदेवाणं जहण्णमुक्कोसेणं अट्ठसागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।"
—स्थानांग, स्थान ८, समवायांग, ६२३, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ६। उ० ५

ऐसी हालत में सूत्र और भाष्य दोनों का कथन श्वे० आगम के साथ संगत न होकर स्पष्ट विरोध को लिये हुए है। दिगम्बर आगम के साथ भी उसका कोई मेल नहीं है; क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय में भी लोकान्तिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आठ सागर की मानी है और इसी से दिगम्बर सूत्रपाठ में "लोकान्तिकानामष्टो सागरोपमाणि सर्वेषाम्" यह यह एक विशेष सूत्र लोकान्तिक देवों की आयु के स्पष्ट निर्देश को लिये हुए है।"[1]

मुख्तार जी की इस चर्चा का सार यह है कि भाष्य में लोकान्तिक देवोंको ब्रह्मलोक का निवासी बताया गया है और ब्रह्मलोक के देवों की भाष्य में आयु मर्यादा अधिकतम दससागरोपम और न्यूनतम सात सागरोपम बताई गई है अतः लोकान्तिक देवों की भी यही आयु मर्यादा होगी। किन्तु श्वेताम्बर आगमों में लोकान्तिक देवों की आयु आठ सागरोपम बताई गई है, इस प्रकार उनकी दृष्टि में सूत्र और भाष्य का कथन श्वेताम्बर आगमों के साथ संगत नहीं है। किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। जहाँ ब्रह्मलोक के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु की चर्चा है वहाँ सामान्य कथन है। जबकि लोकान्तिक देवों की चर्चा एक विशिष्ट कथन है। लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक के देवों का एक छोटा सा विभाग है पुनः जब लोकान्तिक देवों की आयु ब्रह्मलोक के जघन्य और उत्कृष्ट आयुसीमा के अन्तर्गत ही है तो उसका आगमों के साथ विरोध कैसे हुआ? विरोध तो तब होता जब उनकी आयु इसी आयु सीमा वर्ग से भिन्न होती। यह बात अलग है कि दिगम्बर परम्परा ने उसके लिए एक स्वतंत्र सूत्र बना लिया किन्तु यह सूत्र भी श्वेताम्बर मान्य आगमों के विरुद्ध नहीं है, पुनः यह सूत्र स्पष्टता की दृष्टि से ही बनाया गया है, जो यही सिद्ध करता है कि तत्त्वार्थ सूत्र का सर्वार्थसिद्धि का दिगम्बर मान्य पाठ परिष्कारित है।

(६) तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति के बन्ध के कारणों की संख्या को लेकर

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश—पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पृ० १३६।

जैनधर्म की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा में अन्तर माना जाता है। इसी आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ता की परम्परा का निर्धारण करने का प्रयत्न भी किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम णायधम्मकहाओ, आवश्यकनिर्युक्ति तथा प्रवचनसारोद्धार में तीर्थंकर नाम कर्म बंध के बीस कारणों का उल्लेख मिलता है।[1] जबकि तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध के सोलह कारणों का उल्लेख मिलता है[2]।

तत्त्वार्थसूत्र मूल में यद्यपि स्पष्ट रूप से सोलह का संख्या का उल्लेख नहीं है, किन्तु फिर भी गणना करने पर उनकी संख्या सोलह ही है।

---

१. (अ) अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तस्वसीसु।
वच्छलया य एसि अभिक्खनाणोवआगे अ ॥ १ ॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥
—ज्ञाताधर्मकथा, अध्याय ८

(ब) आवश्यकनिर्युक्ति १७९-१८१, तथा ४५१-५३

(स) प्रवचनसारोद्धार, १०/३१२ (देवचन्द लालभाई जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्क ५८)

२. (अ) "दर्शनविशुद्धि विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-संवेगो शक्तितस्त्याग-तपसी संघोसाधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य तत्त्वार्थसूत्र ६/२४

देखें—इसी सूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि टीकायें।

(ब) "दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलवदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधागमे तधा तवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।"
—षट्खण्डागम, बन्धस्वामित्व, ७/४१

षट्खण्डागम में सोलह की संख्या भी स्पष्ट रूप से दी गई है। तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में पन्द्रह नाम तो लगभग समान है, परन्तु उनमें भी एक नाम में तो स्पष्ट अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य भक्ति है जबकि षट्खण्डागम में उसके स्थान पर क्षणलवप्रतिबोधता है, यह नाम श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध हैं। अपराजितसूरि ने भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में यद्यपि १६ अथवा २० की संख्या का निर्देश नहीं किया है। फिर भी दर्शन विशुद्धि आदि को तीर्थंकर नाम-कर्म बन्ध का कारण बताया है[1]।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य श्वेताम्बर मूल पाठ में भी इन्हीं सोलह कारणों का उल्लेख है, किन्तु स्वोपज्ञभाष्य[2] में प्रवचन वात्सलय के अन्तर्गत बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष और ग्लान—इन पाँच के वात्सल्य का उल्लेख है, अतः प्रवचन-वात्सल्य के स्थान पर इन पाँचों को स्वतंत्र मानने पर संख्या बीस हो जाती है। यद्यपि नामों की दृष्टि से तत्त्वार्थभाष्य के तीन नाम आवश्यकनिर्युक्ति से भिन्न होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर नाम कर्मबन्ध के कारणों के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य का दृष्टिकोण श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं से क्वचित् भिन्न है। सिद्धसेनगणि के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य की टीका में तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के बीस कारणों को मानते हुए भी यह कहा है कि सूत्रकार ने इनमें से कुछ का भाष्य में और कुछ का आदि शब्द से ग्रहण किया है[3] (इति शब्द आदय्र्थः)। इस प्रकार तीर्थंकर नामकर्म बंध के प्रश्न को लेकर जो विभिन्न मान्यताएँ हैं, तुलनात्मक दृष्टि से उनका विवरण इस प्रकार है—

---

१. दर्शनविशुद्ध्यादि परिणामविशेष तीर्थंकर त्वनामकर्मातिशयाः।
—भगवतीआराधना, गाथा ३१९ की टीका पृ० २८५

२. "अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बाल-बृद्ध-तपस्वि-शैक्षग्लानादिनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति"
—तत्त्वार्थभाष्य, ६/२३,

३. "विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किंचित्सूत्रे किंचिद्भाष्ये किंचित् आदिग्रहणात् सिद्धपूजा-क्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तम् उपयुज्य च प्रवक्त्रा व्याख्येयम्।"
तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, ६।२३

क्र०सं०	तत्त्वार्थसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाएँ	तत्त्वार्थभाष्य	षट्खण्डागम (यापनीय परंपरा)	ज्ञाताधर्मकथा और आवश्यकनिर्युक्ति (श्वेताम्बर परंपरा)
१.	दर्शन विशुद्धि	दर्शन विशुद्धि	दर्शनविशुद्धता	दर्शननिरतिचारिता
२.	विनय सम्पन्नता	विनय सम्पन्नता	विनय सम्पन्नता	विनयनिरतिचारिता
३.	शीलव्रतानतिचार	शीलव्रतानतिचार	शीलव्रतनिरति-चारिता	शीलव्रतनिरति-चारिता
४.	अभीक्ष्णज्ञानोपयोग	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग	अभीक्ष्ण-अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता	अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
५.	संवेग	संवेग	लब्धिसंवेग संपन्नता	×
६.	शक्त्यानुसार त्याग	शक्त्यानुसार त्याग	साधु प्रासुक परित्यागता	त्याग
७.	शक्त्यानुसार तप	शक्त्यानुसार तप	यथाशक्ति तप	तप
८.	साधु समाधि	साधु समाधि	साधु समाधि संधारणता	समाधि
९.	वैय्यावृत्यकरण	वैय्यावृत्यकरण	साधु वैयावृत्य-योगयुक्तता	वैयावृत्य
१०.	अर्हत् भक्ति	अर्हत् भक्ति	अरहन्त भक्ति	अरहन्त वत्सलता
११.	आचार्य भक्ति	आचार्य भक्ति	×	गुरु वत्सलता
१२.	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत भक्ति	बहुश्रुत वत्सलता
१३.	प्रवचन भक्ति	प्रवचन भक्ति	प्रवचन भक्ति	श्रुत भक्ति
१४.	आवश्यकापरिहाणि	आवश्यकापरिहाणि	आवश्यकापरि-हीनता	आवश्यकनिरति चारिता
१५.	मार्ग-प्रभावना	मार्ग-प्रभावना	मार्ग-प्रभावना	प्रवचन प्रभावना
१६.	प्रवचनवत्सलत्व	प्रवचन वत्सलता	प्रवचन वत्सलता	प्रवचन वात्सल्य
१७.	×	×	क्षणलव प्रतिबो-धनता	क्षणलव प्रति-बोधनता
१८.	×	वृद्ध वत्सलता	×	स्थविर वत्सलता
१९.	×	×	×	सिद्ध वत्सलता
२०.	×	तपस्वी वत्सलता	×	तपस्वी वत्सलता
२१.	×	×	×	अपूर्व ज्ञान ग्रहण
२२.	×	बाल वत्सलता	×	×
२३.	×	शैक्षवत्सलता	×	×
२४.	×	ग्लान वत्सलता	×	×

तीर्थंकर नामकर्मबंध के इस तुलनात्मक विवरण में तत्त्वार्थसूत्र का अन्य ग्रन्थों से जो अन्तर ज्ञात होता है, वह इस प्रकार है—जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञ भाष्य का प्रश्न है—दोनों में सोलह नाम समान हैं, किन्तु दोनों में ही संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थभाष्य में प्रवचन प्रभावना के पाँच भेद किये गये हैं—१. बालवत्सलता, २. वृद्धवत्सलता, ३. तपस्वीवत्सलता, ४. शैक्षवत्सलता और ५. ग्लान वत्सलता। यदि हम प्रवचन वत्सलता के स्थान पर इन पाँच उपभेदों को मान्य करते हैं तो तत्त्वार्थभाष्य में तीर्थंकर नामकर्म बंध के कारणों की संख्या बीस हो जाती है, जो आगे श्वेताम्बर परम्परा में मान्य रही हैं। यद्यपि दोनों में नाम और क्रम में आंशिक अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य बीस कारणों में से तत्त्वार्थसूत्र में १५ समान हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित संवेग श्वेताम्बर परम्परा में अनुपलब्ध है, उसके स्थान पर निम्न पाँच अधिक पाये जाते हैं—१. क्षणलव प्रतिबोधना, २. सिद्ध वत्सलता, ३. स्थविर वत्सलता, ४. तपस्वी वत्सलता और ५. अपूर्व ज्ञान ग्रहण।

यदि हम भाष्य की दृष्टि से इन पर विचार करें तो १६ नाम अर्थ की दृष्टि से लगभग समान हैं—तत्त्वार्थभाष्य में 'संवेग, बालवत्सलता, शैक्ष वत्सलता और ग्लान वत्सलता है जबकि आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञातासूत्र में इनके स्थान पर प्रवचन वत्सलता, क्षणलव प्रतिबोधनता, सिद्धवत्सलता और अपूर्व ज्ञान ग्रहण है। यद्यपि प्रवचन वत्सलता मूल में तो है ही और संवेग को अपूर्व ज्ञान ग्रहण से जोड़ा जा सकता है अतः अन्तर मात्र दो में रहता है। जहाँ तक तत्त्वार्थसूत्र मूल और यापनीय ग्रंथ षट्खण्डागम का प्रश्न है—दोनों में सोलह कारण उपस्थित होते हुए भी उनमें भी एक नाम में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तत्त्वार्थ में आचार्य भक्ति है, वहाँ षट्खण्डागम में क्षणलव प्रतिबोधनता है, जिसका श्वेताम्बर मान्य आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञाताधर्मकथा में उल्लेख है। तत्त्वार्थसूत्र की आचार्यभक्ति षट्खण्डागम में अनुपस्थित है। षट्खण्डागम की अपेक्षा श्वेताम्बर परम्परा में निम्न चार नाम अधिक हैं—गुरु, सिद्ध, स्थविर एवं तपस्वी वत्सलता।

इस तुलना से हम दो निष्कर्ष निकाल सकते हैं, प्रथम यह कि तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के कारणों के नाम तथा संख्या की दृष्टि से श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर—तीनों ही परम्परा में क्वचित् मतभेद पाया जाता

है। न तो तत्त्वार्थसूत्र की, दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ की षट्खण्डागम से पूर्ण एकरूपता है और न श्वेताम्बर मान्य ज्ञाताधर्मकथा और आवश्यकनियुक्ति से हो। किन्तु यदि ईमानदारी पूर्वक विश्लेषण करें तो यह पाते हैं कि इन अन्तरों से कोई सैद्धान्तिक विरोधाभास नहीं आता। तत्त्वार्थसूत्र की आचार्यभक्ति न तो षट्खण्डागमकार को अमान्य कही जा सकती है और न गुरु, सिद्ध, स्थविर और तपस्वी भक्ति तथा अपूर्व ज्ञान ग्रहण के प्रति तत्त्वार्थकार या षट्खण्डागमकार का कोई विरोध हो सकता है। वस्तुतः ये धारणाएँ कालक्रम में विकसित हुई हैं और इसी कारण उनमें क्वचित् मतभेद देखा जाता है।

भगवतीआराधना की अपराजितसूरि टीका में दर्शन विशुद्धि आदि को तीर्थंकरत्व प्राप्ति का कारण बताया है। इसके आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मान लिया है कि उन्हें अर्थात् यापनीयों को भी तत्त्वार्थसूत्र अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय समस्त सोलह कारण ही मान्य होंगे, श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत बीस कारण नहीं। पुनः श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थों में तीर्थंकर पद प्राप्ति का प्रथम कारण अरिहन्त-वत्सलता बताया गया है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम कारण दर्शनविशुद्धि है। इस आधार पर उन्होंने यह भी अनुमान कर लिया है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं हो सकता है। उनके शब्दों में 'इससे भी अनुमानित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं है।'[1]

इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है—बीस कारणों का उल्लेख करने वाली आवश्यक नियुक्ति की ये तीनों गाथाएँ त्रिक् हैं। इस त्रिक् में यदि प्रथम दो गाथाओं का क्रम बदल दिया जाये तो श्वेताम्बर परम्परा में भी प्रारम्भ दर्शन से ही होगा। हो सकता है कि उमास्वाति के सामने यही क्रम रहा हो। गाथाओं के क्रम निर्धारण से मूल अवधारणा में कोई अन्तर भी नहीं आता है। आवश्यकनियुक्ति में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर सभी कारणों का सेवन करते हैं किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकर एक, दो, तीन या सब कारणों का सेवन करते हैं।[2]

---

१. यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० कुसुम पटोरिया पृ० १००।

२. पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वेऽवि फासिया ठाणा।
मज्झिमएहिं जिणेहिं एक्कं दो तिण्णि सव्वे वा॥
—आवश्यकनियुक्ति गाथा ५४ (नियुक्ति संग्रह, पृ० ४७)

पुनः तत्त्वार्थभाष्य की टीका करते हुए सिद्धसेन गणि स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि 'एते यथोउदिष्टा गुणा दर्शनविशुद्धियादय आत्मनः परिणामाः समुदिताः प्रत्येकं च तीर्थंकर नामकर्मन् आश्रवा भवन्ति न पुनः नियमो अस्ति समस्ता एव व्यस्ता एव वा विकल्पा अर्थो वा शब्दः ।'[1] यहाँ हम देखते हैं कि सिद्धसेन भी दर्शन विशुद्धि से ही प्रारम्भ करते हैं और उनके कारणों को वैकल्पिकता स्वीकारते हैं। अतः दर्शनविशुद्धि से प्रारम्भ होने के कारण यापनीयों को दिगम्बर सम्मत वही १६ कारण मान्य थे, यह निष्कर्ष निकाल लेना ठीक नहीं होगा; क्योंकि दोनों में एक नाम में तो स्पष्ट अन्तर है। इस चर्चा में संख्या का महत्त्व नहीं है क्योंकि भाष्य, निर्युक्ति आदि सभी यह मानते हैं कि इनमें से किसी एक के अथवा कुछेक के अथवा सभी के अनुपालन से तीर्थंकर गोत्र का बन्ध होता है।

जहाँ तक १६ या २० कारणों के विवाद का प्रश्न है, नामों की यह भिन्नता षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में भी उपलब्ध होती है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित आचार्य भक्ति का उल्लेख षट्खण्डागम में नहीं है उसके स्थान पर वहाँ 'क्षणलव प्रतिबोधना' का उल्लेख मिलता है। जो कि ज्ञाताधर्मकथा और निर्युक्ति के उल्लेख के अनुरूप है। वस्तुतः तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के कारणों का सुव्यवस्थित संख्यात्मक विवेचन एक परवर्ती घटना है। श्वेताम्बर मान्य ज्ञाताधर्मकथा में तत्सम्बन्धी जो गाथाएँ उपलब्ध हैं, वे उसमें आवश्यक निर्युक्ति से ही प्रक्षिप्त की गई हैं, क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थ गद्य में है और दूसरे उस सन्दर्भ में वे अत्यावश्यक भी नहीं हैं। वहाँ महाबल के तप का विवरण चल रहा है, कोई भी विज्ञ पाठक यह समझ सकता है कि अनुकूल प्रसंग देखकर ये गाथाएँ उसमें डाल दी गई हैं किन्तु यदि यह विवरण वहाँ न भी हो तो भी कोई कमी नहीं रहती। सम्भवतः इस बीस की संख्या का निर्धारण निर्युक्ति काल में ही हुआ है। जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की मूल पाँच नयों एवं शब्दनय के दो भेदों की अवधारणा से सात नयों का विकास हुआ, उसी प्रकार तत्त्वार्थभाष्य के मूल सोलह कारणों तथा भाष्य के प्रवचन वत्सलता के पाँच भेदों से ही श्वेताम्बरों में बीस कारणों की मान्यता का विकास हुआ है। यह भी सम्भव है कि उमास्वाति की उच्च नागर शाखा प्रारम्भ में १६ कारण ही मानती हो।

यदि हम इस सोलह और बीस के विवाद को सामान्य दृष्टि से देखें

---

१. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य टीका ६।२३ (द्वितीयो विभाग, पृ० ३८)

तो न तो यह महत्त्वपूर्ण ही प्रतीत होता है और न सैद्धान्तिक ही। तत्त्वार्थ से ज्ञाताधर्मकथा या आवश्यक निर्युक्ति में जो अधिक बातें हैं वे हैं—सिद्ध भक्ति, स्थविर-भक्ति, तपस्वी-वात्सल्य अपूर्वज्ञानग्रहण तथा क्षणलव समाधि। जबकि तत्त्वार्थ में उल्लिखित आचार्य भक्ति इनमें नहीं है। फिर भी ये सभी बातें ऐसी हैं जिनसे न श्वेताम्बरों को और न दिगम्बरों को विरोध हो सकता है। क्या दिगम्बरों को सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति, तपस्वी वात्सल्य और अपूर्व ज्ञान ग्रहण से कोई आपत्ति है? यदि भेद की ही बात करनी हो तो फिर तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम भी एक परम्परा के नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में भी एक नाम को भिन्नता है और वह भिन्न नाम क्षणलव प्रतिबोधनता श्वेताम्बर आगमों के अनुरूप है। पुनः विकसित कर्मसिद्धान्त और गुणस्थानसिद्धान्त से युक्त षट्खण्डागम तो तत्त्वार्थसूत्र से पर्याप्त परवर्ती है। षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और तत्त्वार्थसूत्र तो श्वेताम्बर और यापनीयों के विभाजन के पूर्व का ग्रन्थ है। पुनः तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के बीस कारण हैं यह अवधारणा आगम काल में नहीं, निर्युक्ति काल में स्थिर हुई है और वहीं से ज्ञाताधर्मकथा में डाली गई है।

(७) दिगम्बर विद्वानों ने 'तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है'—इसे सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह भी दिया है कि तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का जो निरूपण है, उसकी श्वेताम्बर आगमों के साथ संगति नहीं है। साथ ही यह भी दिखाया है कि इस असंगति का उल्लेख स्वयं श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन गणि ने किया है और उसके परिहार का भी प्रयास किया है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार के द्वारा इस असंगति को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है—उसे हम अविकल रूप से नीचे दे रहे हैं। वे लिखते हैं कि—

"सातवें अध्याय का १६वाँ सूत्र इस प्रकार है :—

"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च।"

इस सूत्र में तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के भेद वाले सात उत्तरव्रतों का निर्देश है, जिन्हें शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतों का निर्देश पहले और शिक्षाव्रतों का निर्देश बाद में होता है, इस दृष्टि से इस सूत्र में प्रथम निर्दिष्ट हुए दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत ये तीन गुणव्रत हैं; शेष सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथि-

संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगम में देशव्रत को गुणव्रतों में न लेकर शिक्षाव्रतों में लिया है और इसी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत का ग्रहण शिक्षाव्रतों में न करके गुणव्रतों में किया है। जैसा कि श्वेताम्बर आगम के निम्न सूत्र से प्रकट है—

"आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा-पंचअणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं। तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा-अणत्थदण्ड-वेरमाणं, दिसिव्वयं, उपभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोपवासे, अतिहिसंविभागे।"

—औपपातिक श्रीवीरदेशना सूत्र ५७

इससे तत्त्वार्थशास्त्र का उक्त सूत्र श्वेताम्बर आगम के साथ संगत नहीं, यह स्पष्ट है। इस असंगति को सिद्धसेनगणी ने भी अनुभव किया है और अपनी टीका में यह बतलाते हुए कि 'आर्ष (आगम) में तो गुणव्रतों का क्रम से आदेश करके शिक्षाव्रतों का उपदेश दिया है, किन्तु सूत्रकार ने अन्यथा किया है', यह प्रश्न उठाया है कि सूत्रकार ने परम आर्ष वचन का किसलिये उल्लंघन किया है? जैसा कि निम्न टीका के वाक्य से प्रकट है—

"सम्प्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते। अत्राह वक्ष्यति भवान् देशव्रतं। परमार्षवचनक्रमः कैमर्थ्याद्भिन्नः सूत्रकारेण? आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेण-दिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा।"

इसके बाद प्रश्न के उत्तर रूप में इस असंगति को दूर करने अथवा उस पर कुछ पर्दा डालने का यत्न किया गया है, और वह इस प्रकार है—

"तत्रायमभिप्रायः—पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतम्। न चास्ति सम्भवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्या, ततस्तदनन्तरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति देशे-भागेऽवस्थानं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखाव-बोधार्थमन्यथा क्रमः।"

इसमें अन्यथा क्रम का यह अभिप्राय बतलाया है कि—'पहले से किसी ने १०० योजन परिमाण दिशागमन को मर्यादा ली परन्तु प्रतिदिन उतनी दिशा का अवगाहन सम्भव नहीं है, इसलिये उसके बाद ही देशव्रत का उपदेश दिया है। इससे प्रतिदिन, प्रतिप्रहर और प्रतिक्षण पूर्वगृहीत मर्यादा के एक देश में एक भाग में अवस्थान होता है। अतः सुखबोधार्थ—सरलता से समझाने के लिए यह अन्यथा क्रम स्वीकार किया गया है।'

यह उत्तर बच्चों को बहकाने जैसा है। समझ में नहीं आता कि देशव्रत को सामायिक के बाद रखकर उसका स्वरूप वहाँ बतला देने से उसके सुखबोधार्थ में कौन-सी अड़चन पड़ती अथवा कठिनता उपस्थित होती थी और अड़चन अथवा कठिनता आगमकार को क्यों नहीं सूझ पड़ी ? क्या आगमकार का लक्ष्य सुखबोधार्थ नहीं था ? आगमकार ने तो अधिक शब्दों में अच्छी तरह समझाकर—भेदोपभेद को बतलाकर लिखा है। परन्तु बात वास्तव में सुखबोधार्थ अथवा मात्र क्रम भेद की नहीं है, क्रमभेद तो दूसरा भी माना जाता है—आगम में अनर्थदण्डव्रत को दिग्व्रत से भी पहले दिया है, जिसकी सिद्धसेन गणी ने कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु वह क्रमभेद गुणव्रत-गुणव्रत का है, जिसका विशेष महत्व नहीं; यहाँ तो उस क्रमभेद की बात है जिससे एक गुणव्रत शिक्षाव्रत और एक शिक्षाव्रत गुणव्रत हो जाता है और इसलिए इस प्रकार की असंगति सुखबोधार्थ कह देने मात्र से दूर नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट कहना होगा कि इसके द्वारा दूसरे शासन भेद को अपनाया गया है।[१]"

इस सन्दर्भ में मेरा निवेदन इस प्रकार है प्रथमतः तो ऐसे आवान्तर मतभेद एक ही परम्परा में भी उपलब्ध होते हैं, हमें तो यह विचार करना होगा कि क्या यह कोई महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक असंगति है ? यदि हम गुणव्रतों या शिक्षाव्रतों के नामों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो हम यह पाते हैं कि वर्तमान में जो श्रावक के बारह व्रतों का विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में किया जाता है वह श्वेताम्बर आगमों में भी समान रूप से नहीं है। वह एक कालक्रम में विकसित एवं सुनिश्चित हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक परम्परा में आवान्तर मतभेद देखे जा सकते हैं।

श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी औपपातिक में जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, शिक्षाव्रत का विभाजन है, वह उपासकदशांग में नहीं है। उपासकदशांग में पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विभाजन तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशांग की रचना के पश्चात् हुआ है, जो ग्रन्थ ऐसे उल्लेख से युक्त हैं, वे परवर्ती हैं।

जहाँ तक श्रावक के बारह व्रतों के नामों का प्रश्न है वहाँ तक श्वेताम्बर आगमों और तत्त्वार्थसूत्र में नामों को लेकर कोई असंगति नहीं

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश—पं० जुगल किशोर जी मुख्तार, पृ० १४०-१४२।

है। उपासकदशांग, औपपातिक और तत्त्वार्थसूत्र में समान रूप से उन्हीं बारह नामों का उल्लेख हुआ है। अतः नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर आगमों और तत्त्वार्थसूत्र में कहीं कोई असंगति नहीं है। जिस असंगति का निर्देश पं० जुगलकिशोर मुख्तार और अन्य दिगम्बर विद्वान् करते हैं तथा जिसे सिद्धसेनगणि ने भी स्पष्ट किया है, वह क्रम सम्बन्धी असंगति है।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत को श्वेताम्बर परम्परा में गुणव्रतों में समाहित किया जाता है जबकि तत्त्वार्थ में क्रम की दृष्टि से वह शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत आता है। किन्तु गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का यह विभाजन प्राचीन नहीं है, तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् का है। तत्त्वार्थ में तो अणुव्रत और व्रत ये दो ही विभाग हैं। उपासकदशांग भी स्पष्ट रूप से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख करता है[1]। गुणव्रतों का निर्देश श्वेताम्बर आगमिक साहित्य में सर्वप्रथम औपपातिक में मिलता है और यह निश्चित है कि उपासकदशांग औपपातिक से प्राचीन है। तत्त्वार्थसूत्र में तो गुणव्रत और शिक्षाव्रत ऐसा नाम भी नहीं है उसमें तो मात्र अणुव्रत और व्रत यही उल्लेख है[2]। भाष्यकार अणुव्रत और उत्तरव्रत अथवा शील कहकर उनमें अन्तर करता है जिसे उपासकदशांग में शिक्षाव्रत कहा गया है उसे ही तत्त्वार्थभाष्य में उत्तरव्रत या शील कहा गया[3]। अतः तत्त्वार्थ-मूल, भाष्य और उपासकदशांग की दृष्टि से विचार करें तो उस काल तक वहाँ गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का भेद ही उत्पन्न नहीं हुआ था अतः उनमें कोई क्रम भंग हुआ यह कहना ही उचित नहीं है। हमें मात्र अवधारणाओं पर ही विचार नहीं करना चाहिए, वरन् उन अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को भी समझना चाहिए। दुर्भाग्य से हमारे दिगम्बर विद्वान् अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को अपनी दृष्टि से ओझल कर देते हैं, और यह मान लेते हैं आज जैनधर्म का जो रूप है, वह सब महावीर प्रतिपादित है। जिसके परिणामस्वरूप जैन-विद्या का

---

१. 'पंचाअणुवत्तिअं सत्तसिक्खावइयं दुवालस विहं गिरिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।
—उपासकदशांग १।२५ (सं० मधुकर मुनि)

२. तत्त्वार्थसूत्र ७।१५–१७

३. (अ) दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः सम्पन्नोऽगारी व्रतीभवति।
—तत्त्वार्थ भाष्य ७।१६

(ब) एतानि दिग्व्रतादीनि शीलानि भवति —तत्त्वार्थभाष्य ७।१७

समस्त इतिहास ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। यदि हम ऐतिहासिक क्रम से देखें तो पहले श्रावक के अणुव्रतों और उत्तरव्रतों, जिन्हें शिक्षाव्रत भी कहा गया, की अवधारणा बनी होगी। उसके बाद ही उत्तरव्रतों (शिक्षाव्रतों) का गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों में विभाजन हुआ होगा। अतः अधिकांश दिगम्बर विद्वानों का यह कहना कि तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगमों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के क्रम को लेकर अन्तर है, केवल लोगों को भ्रमित करने के लिए है या मात्र अपनी परम्परा का पोषण करने के लिए है। अब रहा प्रश्न व्रतों के क्रम का तो प्रारम्भ में यह क्रम भी सुनिश्चित नहीं रहा यदि हम श्वेताम्बर आगम उपासकदशांग और औपपातिक को ही लें तो वहाँ क्रम में अन्तर है। जहाँ औपपातिक में अनर्थदण्डविरमण को छठाँ, दिक्व्रत को सातवाँ और उपभोग परिभोग परिमाण का आठवाँ क्रम दिया गया है. वहीं उपासकदशांग में दिग्व्रत को छठाँ, उपभोग परिभोग परिमाण को सातवाँ तथा अनर्थदण्ड विरमण को आठवाँ स्थान दिया गया है। अतः श्रावक के द्वादश व्रतों में सुनिश्चित क्रम निर्धारण और उस क्रम के अनुसरण की स्थिति छठीं शती से भी परवर्ती है। जब आगम ग्रन्थों में एवं प्राचीन दिगम्बर और यापनीय आचार्यों में ही सुनिश्चित क्रम नहीं है, तो फिर उमास्वाति पर यह दोषारोपण ही कैसे किया जा सकता है कि उन्होंने क्रम भंग किया है। जब सातों ही उत्तरव्रत या शिक्षाव्रत थे तो उनमें एक निश्चित क्रम का ही अनुसरण किया जाय, यह आवश्यक नहीं था। सिद्धसेनगणि ने भी भाष्यकार पर जो आक्षेप किया है, वह अपनी साम्प्रदायिक स्थिति के कारण ही किया है। दूसरे यह कि उनके काल तक परवर्ती आगमों में यह क्रम निश्चित हो गया था, अतः उन्हें यह असंगति प्रतीत हुई।

उमास्वाति ने खान-पान से सम्बन्धित उत्तरव्रतों को एक साथ रख कर एक अपना विशेष दृष्टि का ही परिचय दिया है अतः यह कहना न्यायसंगत नहीं है कि श्रावक के व्रतों के विवेचन के सन्दर्भ में तत्त्वार्थ और श्वेताम्बर आगमों में असंगति है अतः तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। यदि उपासकदशा और औपपातिक सूत्र इन श्वेताम्बर मान्य दो आगमों में ही क्रमभेद हैं तो क्या वे दोनों आगम श्वेताम्बर परम्परा के नहीं माने जायेंगे। पं० जुगलकिशोर जी जब दोनों ही आगमों को श्वेताम्बर मानकर उद्धृत कर रहे हैं तो क्या वे उनके क्रमभेद को अपनी दृष्टि से ओझल किये हुए हैं?

अब यदि यही क्रम भंग का आधार ग्रन्थ के श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व की कसौटी माना जाता है, तो प्रथम प्रश्न तो यही उठता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के द्वादश व्रतों का जिस रूप में व जिस क्रम से विवेचन है, वही दिगम्बर परम्परा में पाया जाता है। हमारे दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने इस बात को बड़े साहस के साथ प्रतिपादित किया है कि उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य हैं और तत्त्वार्थ की अवधारणाओं के मूल बीज श्वेताम्बर आगमों में नहीं, अपितु आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उपस्थित है[1]। यदि यही बात है तो श्रावक के व्रतों की उमास्वाति की प्रतिपादन शैली और कुन्दकुन्द की प्रतिपादन शैली की जरा तुलना कर ली जाय। उमास्वाति जिन पाँच अणुव्रतों और सात उत्तरव्रतों को तत्त्वार्थसूत्र मूल और भाष्य में प्रस्तुत करते हैं, वे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी उस रूप में नहीं मिलते हैं।

कुन्दकुन्द औपपातिक के समान ही श्रावक के बारह व्रतों का अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत में विभाजन करते हैं। जबकि तत्त्वार्थसूत्र उपासकदशांग का अनुसरण करते हुए श्रावक के बारह व्रतों का अणुव्रत और व्रत (उत्तरव्रत / शिक्षाव्रत) के रूप में उल्लेख करता है। इससे यह भी फलित होता है कि कुन्दकुन्द उमास्वाति से परवर्ती हैं। वैसे कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय (१/१४) में सप्तभंगी तथा गुणस्थान का उल्लेख होने से भी वे उमास्वाति की अपेक्षा परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। जहाँ तक श्रावक के व्रतों की संख्या का प्रश्न है उमास्वाति और कुन्दकुन्द दोनों ही बारह की संख्या तो स्वीकार करते हैं किन्तु उनके नामों को लेकर महत्त्वपूर्ण अन्तर है। कुन्दकुन्द दिग्व्रत और देशव्रत दोनों को मिलाकर एक कर देते हैं और उनके स्थान पर बारह की संख्या की पूर्ति करने के लिए संलेखना को शिक्षाव्रत में जोड़ देते हैं[2]। पुनः जहाँ कुन्दकुन्द अनर्थदण्ड

---

१. देखें—तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज—पं० परमानन्द जैनशास्त्री, प्रकाशित 'अनेकांत' वर्ष ४ किरण १ पृ० १७–३७

२. पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावयं चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे अदत्तथूले य।
परिहरो परमहिला परिग्गहारंभ परिमाणं॥
दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमाणं इयमेव गुणव्वया तिण्णि॥

को सातवाँ और भोगोपभोग परिमाण को आठवाँ व्रत मानते हैं, वहीं उमास्वाति अनर्थदण्ड को तो सातवाँ मानते हैं, किन्तु भोग परिभोग-परिमाण को ग्यारहवाँ व्रत मानते हैं[2]। जबकि कुन्दकुन्द ने उसे आठवाँ और गुणव्रत की दृष्टि से तीसरा माना है। पुनः कुन्दकुन्द अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत ऐसा विभाजन करते हैं जबकि उमास्वाति अणुव्रत और व्रत (उत्तरव्रत) ऐसा विभाजन करते हैं। यदि उमास्वाति का श्रावक के बारह व्रतों का क्रम श्वेताम्बर आगमों से असंगत है तो वह कुन्दकुन्द से भी तो असंगत है। मात्र यही नहीं कुन्दकुन्द में यह असंगति तिहरी है। कुन्दकुन्द ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत का भेद माना है जब कि उमास्वाति ने यह भेद नहीं किया है। दूसरे यह कि कुन्दकुन्द दिग्व्रत और देशव्रत को अलग-अलग नहीं मानते तथा उनका क्रम उमास्वाति से भिन्न है। तीसरे वे संलेखना को बारहवें व्रत के रूप में गिनते हैं, जिसे उमास्वाति श्रावक के व्रतों में वर्गीकृत ही नहीं करते। हमें यह समझ में नहीं आता कि आगम से मात्र क्रमभंग के आधार पर यदि उमास्वाति श्वेताम्बर नहीं हैं, ऐसा माना जा सकता है, तो कुन्दकुन्द जिसके वे शिष्य माने जाते हैं और जिनके ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है— जैसा कि दिगम्बर विद्वानों द्वारा माना जाता है, तो उनसे तत्त्वार्थसूत्र की इतनी असंगति क्यों है ?

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रावक के व्रतों का अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में विभाजन एवं उनके नाम और क्रम को लेकर न केवल श्वेताम्बर परम्परा में अवान्तर अन्तर पाया जाता है बल्कि दिगम्बर परम्परा में भी अवान्तर अन्तर पाया जाता है और वह अन्तर श्वेताम्बरों की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण और सैद्धान्तिक है। दिगम्बर परम्परा में श्रावक के व्रतों को लेकर आचार्यों में परस्पर मतभेद है। अमृतचन्द्र पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय[1] में, सोमदेव उपासकाध्ययन[2] में, अमितगति श्रावकाचार

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥

—चारित्रपाहुड (परमश्रुतप्रभावक मण्डल अगास) २३-२६

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४०—१७६ (ज्ञातव्य है कि अमृतचन्द्र तत्त्वार्थसूत्र के क्रम का पूर्णतः अनुसरण करते है और गुणव्रत और शिक्षाव्रत के स्थान पर शील शब्द का प्रयोग करते हैं)

२. अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतं।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युद्वदिशोतरे ॥ —उपासकाध्ययन २९९

में,[1] पद्मनन्दि पंचविंशतिमें[2] और पं० राजमल्ल ने लाटी संहिता[3] में उमास्वाति का अनुसरण करते हुए पाँच अणुव्रतों और सात शीलों का उल्लेख करते हैं और इस प्रकार कुन्दकुन्द और इन आचार्यों के वर्गीकरण में स्पष्ट अन्तर देखा जाता है। ये सभी आचार्य संलेखना को श्रावक व्रतों में समाहित नहीं करते हैं। जबकि कुन्दकुन्द दिग्व्रत और देशव्रत को एक मानकर संलेखना को बारह व्रतों में समाहित करते हैं। हरिवंश पुराण में तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण करते हुए दिग्व्रत और देशव्रत को अलग-अलग माना गया है[4]। यही स्थिति आदिपुराण की भी है उसमें भी दिग्व्रत और देशव्रत अलग-अलग माने गये हैं[5]। कार्तिकेयानुप्रेक्षा और

[ज्ञातव्य है कि सोमदेव ने भी उपभोग परिभोग को शिक्षाव्रत में गिना है और उसे ११ वाँ स्थान दिया है। किन्तु अणुव्रतों में वे अचौर्य को दूसरा और सत्य को तीसरा अणुव्रत मानते हैं देखें—उपासकाध्ययन ७/२९९-४२४]

१. अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यन्ते।
पंचत्रि चतुः संख्यासहितानि द्वादश प्राप्तैः॥
—अमितगति श्रावकाचार ६/२

[ज्ञातव्य है कि अमितगति नाम एवं क्रम में पूर्णतः उमास्वाति का अनुसरण करते हैं उन्होंने भी दिक् और देश व्रत को गुणव्रत और उपभोग-परिभोग को शिक्षाव्रत माना है देखें—अमितगति श्रावकाचार ७६-९५]

२. पद्मनन्दि-पञ्चविंशति : (जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर) ६/२४
[इसकी हिन्दी व्याख्या में श्वेताम्बर मान्य उपासकदशा के अनुरूप दिग्व्रत, अनर्थ दण्ड और भोगापभोग परिमाण को गुणव्रत में और देशावकाशिक (देशव्रत) को शिक्षाव्रत में माना है—यद्यपि यहाँ अनर्थदण्ड का क्रम ७ वाँ है जबकि उसमें आठवाँ है।]

३. दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम्—६/१०९-११० साथ ही देखें ६/१५१ के नीचे उद्धृत सूत्र, (पृ० ११३)। ज्ञातव्य है पं० राजमल्ल ने व्रत विवेचन में उमास्वाति का अनुसरण किया है।

४. देखें—हरिवंश पुराण, जिनसेन (प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ) ५८/१३६-१८३

५. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३०-३६८—[ज्ञातव्य है कि इसमें अनर्थदण्ड को दूसरा और भोगोपभोग परिमाणव्रत को तीसरा गुणव्रत कहा गया है। साथ ही शिक्षाव्रतों में सामयिक को प्रथम, प्रोषधोपवास को द्वितीय, अतिथि

सागारधर्मामृत[1] भी आदिपुराण और हरिवंशपुराण का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार ये सभी कुन्दकुन्द से भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यद्यपि अन्य नाम तो उमास्वाति के अनुसार ही पाये जाते हैं। किन्तु अतिथिसंविभाग के स्थान पर वैयावृत्य का उल्लेख है।[2] यहाँ भी जो गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का विभाजन है तथा जो क्रम है, वह भगवतीआराधना उपासकदशा एवं औपपातिक से भिन्न है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रावक के द्वादश व्रतों के नाम और क्रम को लेकर एक नहीं, तीन परम्परा पायी जाती है और पुनः ये तीनों परम्परायें भी पूर्णतः तत्त्वार्थ का अनुसरण नहीं करती हैं। कहीं नाम का तो कहीं क्रम का अन्तर है।

जब नामों में समानता होते हुए भी मात्र क्रमभंग के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर आगमों से असंगत माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का ग्रंथ नहीं है तो फिर दिगम्बर परम्परा के श्रावक व्रतों के वर्गीकरण की उपलब्ध तीनों परम्पराओं से कहीं नाम और कहीं क्रम की दृष्टि से भेद होते हुए भी तत्त्वार्थसूत्र उस परम्परा का कैसे माना जा सकता है? दूसरों की असंगतियों को उजागर करके अपनी असंगतियों को न देखना कहाँ का न्याय है? क्रम भेद के जिस तर्क के आधार पर तत्त्वार्थ श्वेताम्बर परम्परा का नहीं माना जा सकता, उसी तर्क के आधार पर वह दिगम्बर परम्परा का भी सिद्ध नहीं होता है।

संविभाग को तृतीय और देशावकाशिक को सबसे अन्त में चतुर्थ स्थान दिया गया है।

१. देखें—सागारधर्मामृत ५/१-२३ तथा ५/२४-५५

ज्ञातव्य है कि पं० आशाधरजी के श्रावक व्रत विवेचन में उमास्वाति के स्थान पर श्वेताम्बरमान्य औपपातिक सूत्र का अनुसरण देखा जाता है फिर भी आन्तरिक क्रम में भिन्नता है। इसमें अनर्थदण्ड को दूसरा गुणव्रत और भोगोपभोग परिमाण को तीसरा गुणव्रत कहा गया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में अनर्थदण्ड को तीसरा और भोगोपभोग परिमाण को दूसरा गुणव्रत माना गया है। शिक्षाव्रतों में भी इसमें देशावकाशिक को प्रथम स्थान दिया गया है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है।

२. देखें–रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समन्तभद्र) ५१-१२१

३. भगवती आराधना (सं० पं० कैलाशचन्दजी, जैन संस्कृति रक्षक संघ शोलापुर) २०७३-२०७५

पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार[1] ने तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर आगमिक परम्परा से भिन्नता सिद्ध करते हुए यह भी बताया है कि "तत्त्वार्थभाष्य में नामकर्म की प्रकृतियों की चर्चा करते हुए पाँच पर्याप्तियों का उल्लेख हुआ है। यथा–पर्याप्तिः पंचविधा तद्यथा—आहारपर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोश्वासपर्याप्ति और भाषापर्याप्ति।[2] यह सुस्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में छह पर्याप्तियाँ मानी जाती हैं, जबकि भाष्य में पाँच पर्याप्तियों का उल्लेख है अतः भाष्य का उक्त कथन श्वेताम्बर आगम के अनुकूल नहीं है।" सिद्ध-सेनगणि ने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में इस असंगति को उठाया है, वे लिखते हैं कि परमआर्षवचन में अर्थात् आगम में तो षट् पर्याप्तियाँ प्रसिद्ध हैं। फिर यह पर्याप्तियों की पाँच संख्या कैसी? इस शंका का निवारण करते हुए उन्होंने स्वयं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्द्रिय पर्याप्ति में मनः पर्याप्ति का ग्रहण समझ लेना चाहिए, वस्तुतः पाँच और छः पर्याप्तियों का यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं।[3] आगमों में एक तथ्य को अनेक अपेक्षाओं से अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया जाता है। जैसे संज्ञा का वर्गीकरण चार संज्ञा के रूप में भी मिलता है और दस संज्ञा के रूप में भी। यदि हम व्यापक दृष्टि से विचार करें तो मन भी इन्द्रिय वर्ग से भिन्न नहीं है, उसे नो-इन्द्रिय कहा गया है। अतः भाष्य में मनः-पर्याप्ति का अलग से उल्लेख नहीं होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई आगम से भिन्न मत प्रस्तुत कर रहा है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वार्थ मूल और उसके भाष्य दोनों की शैली सूत्र शैली है और सूत्र शैली में अनावश्यक विस्तार से बचना होता है। पुनः प्राचीन परम्परा में मन का ग्रहण इन्द्रिय के अन्तर्गत होता था। अन्य दर्शनों में मन को इन्द्रिय माना ही गया है।[4] तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना पर अन्य परम्परा के सूत्र ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है। सम्भवतः उमास्वाति ने अन्य परम्पराओं के प्रभाव और संक्षिप्तता की दृष्टि से

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पृ० १४२

२. पर्याप्तिः पंचविधा। तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति।" —तत्त्वार्थभाष्य ८/१२

३. "ननु च षट् पर्याप्तयः परमार्षवचनप्रसिद्धाः कथं पंचसंख्याका? इति।"

४. "इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम्।"

—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य टीका ८।१२ (भाग २, पृ० १५९-१६०)

यह शैली अपनाई है। यह बात हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उमास्वाति के काल में न तो साम्प्रदायिक मान्यताएँ ही पूर्णतः स्थिर हो पाई थीं और न आगमिक मान्यताओं में एकरूपता ही थी। अतः ऐसे सामान्य मतभेद बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखते हैं। पुनः पर्याप्तियों की संख्या पाँच मानने से यह तो सिद्ध नहीं होता है कि तत्त्वार्थभाष्य और उसके कर्ता दिगम्बर हैं। क्योंकि दिगम्बर भी तो छः पर्याप्ति मानते हैं, हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि उमास्वाति के सामने जो आगम रहे हैं वे वलभी में सम्पादित आगम नहीं है, उनके समक्ष वलभी के सम्पादन और संकलन के पूर्व के आगम थे। अतः ऐसे मतभेद स्वाभाविक है, क्योंकि जैन दर्शन में मान्यता सम्बन्धी स्थिरीकरण ५वीं-६वीं शती में हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य का श्वेताम्बर और उसके मान्य आगमों से अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० जुगल किशोर जी मुख्तार लिखते हैं कि तत्त्वार्थ के नवें अध्याय में जो दशधर्म विषयक सूत्र हैं, उसके भाष्य में भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का निर्देश है। इन भिक्षु की बारह प्रतिमाओं में सात प्रतिमाएँ क्रमशः एक मास से लेकर सात मास तक की है। तीन प्रतिमाएँ क्रमशः सात रात्रिकी और चौदह रात्रिकी और इक्कीस रात्रिकी हैं। शेष दो प्रतिमाएँ क्रमशः अहोरात्रिकी और एकरात्रिकी है।[1] सिद्धसेनगणि के इस भाष्य की टीका लिखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा है कि आगम के अनुसार तो तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिकी मानी गई हैं। चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशति रात्रिकी प्रतिमाएँ आगम के अनुसार नहीं हैं। इस सन्दर्भ में उनका स्पष्ट कथन है कि यह भाष्य आगम के अनुकूल नहीं है, यह प्रमत्त गीत है। उमास्वाति तो पूर्वों के ज्ञाता थे। वे आगमों से असंगत वचन किस प्रकार लिख सकते थे। सम्भवतः आगम-सूत्र की अनभिज्ञता से उत्पन्न हुई भ्रांति के कारण किसी ने इस वचन की रचना की है।[2] सिद्धसेनगणि ने यह भ्रान्ति कैसे हुई इसका भी उल्लेख

१. "तथा द्वादशभिक्षु-प्रतिमाः मासिक्यादयः आसप्तमासिक्यः सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः अहोरात्रिकी एकरात्रिकी चेति।"

—तत्त्वार्थधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेनगणि) ९।६।७ भाग २ पृ० २०५

२. "सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति नेदं परमार्षवचनानुसारिभाष्य; किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचकोहि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निबध्नीयात् ? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्। दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितोया सप्तरात्रिकी तृतीया

किया है और बताया है कि आगम के प्राकृत वचन के सम्यक् अर्थ को नहीं समझने के कारण ही यह भ्रान्ति हो गई है।[1]

यदि हम यह भी मान ले कि भाष्य का यह अंश प्रक्षिप्त न होकर मौलिक ही है, तो भी इससे उनके सम्प्रदाय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती है। क्योंकि भाष्यगत यह मान्यता श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय किसी के पक्ष में नहीं जाती है। इससे इतना ही ज्ञात होता है कि उमास्वाति की कुछ मान्यताएँ इन तीनों परम्पराओं से पृथक् थी। इसका तात्पर्य यह भी है कि वे इन साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व हुए हैं।

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने तत्त्वार्थ भाष्य की श्वेताम्बर मान्य आगमों से असंगति दिखाते हुए यह भी लिखा है कि "नवें अध्याय के अन्तिम सूत्र में पुलाक, बकुश आदि निग्रन्थों के न्यूनतम और अधिकतम श्रुतज्ञान सम्बन्धी जो मान्यताएँ हैं वे श्वेताम्बर मान्य आगमों से संगति नहीं रखती हैं। जहाँ तक जघन्य श्रुतज्ञान की मान्यता का प्रश्न है वहाँ तक तो भाष्य और श्वेताम्बर मान्य आगमों में संगति है। किन्तु जहाँ उत्कृष्ट श्रुतज्ञान सम्बन्धी मान्यता का प्रश्न है, वहाँ भाष्य और श्वेताम्बर मान्य आगमों में अन्तर है। उदाहरण के लिए पुलाक मुनियों का उत्कृष्ट श्रुतज्ञान आगम में नवपूर्व तक बताया गया है जबकि भाष्य में अभिन्न अक्षर दस पूर्व अर्थात् पूर्ण दस पूर्व बताया गया है। इसी प्रकार बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनियों का श्रुतज्ञान आगम में चौदह पूर्व तक बताया गया है, जबकि भाष्य उनके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान को दस पूर्व से अधिक नहीं मानता है। इस प्रकार भाष्य और आगमिक मान्यताओं में अन्तर है।"[2] सिद्धसेन गणि ने इस अन्तर का उल्लेख तो किया है[3] किन्तु उन्होंने आगम से इसकी संगति बिठाने का प्रयत्न नहीं किया, मात्र इतना ही कहकर इस विषय को छोड़ दिया है कि आगम में अन्यथा व्यवस्था है।

सप्तरात्रिकोति सूत्रनिर्भेदः। द्वे सप्तरात्रे त्रीणोति सप्तरात्राणोति सूत्रनिर्भेदं कृत्वा पठितमज्ञेन सप्वचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्त्र इति।

—वही ९।६।७ भाग २ पृ० २०६

१. वही ९।६।७ पृ० २०६ (अन्तिम दो पंक्तियाँ)

२. देखें—जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, ले० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, पृ० १४४-१५५

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेनगणि) भाग २, ९/६१/८ पृ० २०६

इस सन्दर्भ में हम पूर्व में ही संकेत कर चुके हैं कि उमास्वाति के काल तक अनेक मान्यताएँ स्थिर नहीं हो पाई थीं। आचार्यों में इन मान्यताओं को लेकर परस्पर मतवैभिन्य था। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सिद्धसेन गणि जिन आगमों का सन्दर्भ दे रहे हैं वे वलभी वाचना के आगम हैं और यह स्पष्ट है कि यह वाचना उमास्वाति के बाद हुई है। उमास्वाति का मत यदि किसी वाचना विशेष से मतभेद रखता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे आगम विरोधी थे। जैसा हम संकेत कर चुके हैं कि जिन्हें दिगम्बर परम्परा अपने आगम मान रही है ऐसे प्राचोन शौरसेनी के आगम-तुल्य ग्रन्थ कसायपाहुड़ और षट्खण्डागम में भी परस्पर मतवैभिन्य हैं। कर्मप्रकृतियों के क्षय के प्रश्न को लेकर कसायपाहुड़ की चूलिका और षट्खण्डागम के 'सत्प्ररूपणा' द्वार के मत भिन्न-भिन्न हैं[1]। फिर तो इन्हें भो भिन्न परम्परा का मानना होगा। षट्खण्डागम में स्वयं आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ति के मन्तव्यों की भिन्नता का उल्लेख आया है और उसमें आर्य मंक्षु की मान्यता को अपर्यवसित या अमान्य कहा गया है[2]। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूसरी और तीसरी शताब्दियों में आचार, तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं को लेकर जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद थे। क्योंकि उस युग में न तो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हुआ था और न मान्यताओं का स्थिरीकरण। यदि श्वेताम्बर आगमों से मान्यता भेद के कारण—उमास्वाति श्वेताम्बर नहीं हैं—यह कहा जा सकता है तो पुण्य-प्रकृति अथवा जिन के परिषहों आदि की भिन्नता को लेकर यह भी कहा जा सकता है वे दिगम्बर भी नहीं हैं। जो तर्क आदरणीय मुख्तार जी उमास्वाति के श्वेताम्बर होने के विरोध में देते हैं, वे ही तर्क समान रूप से उमास्वाति के दिगम्बर होने के विरोध में भी लागू होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि तर्क का जो चाकू

---

१. दोनों के मान्यता भेद के सम्बन्ध में देखें—षट्खण्डागम परिशीलन—पं० बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ पृ० १४८-१४९

२. इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के लिये देखें—

(अ) कसायपाहुडसुत्त—सं० पं० हीरालाल जैन, प्रकाशक वीर शासन संघ कलकत्ता १९५५ प्रस्तावना पृ० २४-२५

(ब) षट्खण्डागम परिशीलन-पं० बालचन्द शास्त्री पृ० ६४६-६४८

(स) षट्खण्डागम धवलाटीका पुस्तक १६ पृ० ५७८

दूसरे का गला काट सकता है, वह अपना भी गला काट सकता है। अतः ऐसे तर्कों के सम्बन्धों में हमें बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।

डा० कोठिया ने तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने के लिए जो तर्क उपस्थित किये हैं, वे ही तर्क पं० कैलाशचन्दजी ने जैन साहित्य का इतिहास भाग—२ (पृ० २२८ से २७२) में भी विस्तार से प्रस्तुत किये हैं। पं० जुगलकिशोर जी आदि दिगम्बर परम्परा के अनेक अन्य विद्वानों ने भी उन्हीं मुद्दों को छुआ है। हम उन सब की चर्चा पुनः यहाँ नहीं करेंगे। उन्होंने जो नये मुद्दे उठाये हैं उनमें एक परिषहों की चर्चा में नाग्न्य शब्द का प्रयोग है। जिसका संकेत पं० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री ने सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में भी किया है। तत्त्वार्थसूत्र में परीषहों में अचेल के स्थान पर नाग्न्य शब्द के प्रयोग को देखकर डॉ० कोठिया ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब श्वेताम्बर परम्परा ने अचेल शब्द का अर्थ अल्पचेल के रूप में भ्रष्ट कर दिया, तो उस परम्परा से अपने को पृथक् करने के लिए सूत्रकार ने अचेल के स्थान पर 'नाग्न्य' शब्द प्रयोग किया[1]। सर्वप्रथम तो हम पण्डित जी से यह जानना चाहेंगे कि श्वेताम्बर परम्परा में अचेल शब्द का अल्पचेल अर्थ कब प्रचलित हुआ ? तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पहले या बाद में ? श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगमों में तो अचेल का अर्थ अल्पचेल होता है, ऐसा कहीं लिखा नहीं है, निर्युक्तियाँ भी इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं करती हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख चूर्णियों एवं टीकाओं में मिलता है और जैसा कि दोनों परम्परा के विद्वान् मानते हैं, चूर्णियाँ एवं टीकाएँ तो ७ वीं शती या उसके भी बाद रची गयी हैं, फिर तीसरी या चौथी शती में हुए उमास्वाति को यह कैसे ज्ञात हो गया कि अचेल का अर्थ श्वेताम्बर आचार्य अल्पचेल करते हैं। क्या वे सर्वज्ञ थे ? या वे श्वेताम्बर परम्परा के उद्भव के बाद हुए हैं ? सम्भवतः डॉ० कोठिया यह मान बैठे हैं कि 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग मात्र दिगम्बर आचार्यों ने अपनी परम्परा को पृथक् सूचित करने के लिए किया है। लगता है कि आदरणीय डॉ० सा० ने उन आगमों को देखा ही नहीं है। आगमों में नग्न के प्राकृत रूप नग्ग या णगिन के अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं। (देखिए—उत्तरा० २०/४१; भगवती १/९/७७; सूत्रकृतांग ७/१४; आचा० १/९/६) डॉ० कोठियाजी ने आगमों में अचेल शब्द को देखा, किन्तु नग्न की ओर ध्यान नहीं दिया। आगमों में अचेल और नग्न दोनों ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ई० सन् की दूसरी शती तक श्वेताम्बरों

के पूर्वाचार्य वस्त्र या कम्बल रखते हुए भी प्रायः नग्न ही रहते थे, जो उनके मथुरा के अंकनों से सिद्ध है।

इसी प्रकार डॉ० कोठिया ने बताया है कि बारह तप के प्रकार में जहाँ उत्तराध्ययन एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति में 'संलीनता' है वहाँ तत्त्वार्थ में विविक्त शय्यासन है। अतः तत्त्वार्थ का कर्ता श्वेताम्बर परम्परा का नहीं हो सकता है।[1]

यहाँ भी प्रतीत यही होता है कि आदरणीय डॉ० सा० ने उत्तराध्ययन की जो गाथाएँ कहीं से लेकर यहाँ उद्धृत की हैं, उनके अतिरिक्त उत्तराध्ययन को देखा ही नहीं है। उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय की २८वीं गाथा में संलीनता की व्याख्या करते हुए "विवित्तसयणासणं" शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है, जो तत्त्वार्थसूत्र के तप के वर्गीकरण के अनुरूप ही है तथा हरिभद्रसूरि ने संलीनता के स्पष्टीकरण में विविक्तचर्या का उल्लेख किया है। उनके ग्रन्थ की मेरी समीक्षा के प्रत्युत्तर में आ० कोठियाजी ने विविक्तचर्या में और विविक्त- शय्यासन में भी अन्तर मान लिया है[2]। चर्या का अर्थ चलना और शय्यासन का अर्थ सोना-बैठना करके वे इनमें अन्तर करते हैं, किन्तु चर्या का का अर्थ सदैव ही चलना नहीं होता है, व्रतचर्या, तपश्चर्या आदि में चर्या का अर्थ चलना न होकर अभ्यास या साधना है। यदि चर्या का अर्थ अभ्यास और साधना भी है तो दोनों ही शब्दों का अर्थ एकान्त स्थल में साधना करना होगा। यदि चर्या और शय्यासन का अर्थ अलग-अलग मान भी ले, तो भी मूल-प्रश्न तो विविक्त 'शय्यासन' का ही है। जब तत्त्वार्थसूत्र (९।१९) में और उत्तराध्ययन (३०।२८) में—दोनों में बाह्य तप में विविक्त शय्यासन शब्द का स्पष्ट उल्लेख है तो फिर दोनों में परम्परा भेद का प्रश्न ही नहीं उठता है। तत्त्वार्थसूत्रकार को उत्तराध्ययन की परम्परा का अनुसरण करने वाला ही मानना होगा। स्पष्ट सत्य को स्वीकार न करके शब्दों के वाक् जाल में उलझाना और यह कहना कि विविक्त शय्यासन श्वेताम्बर श्रुत में नहीं है—क्या यह श्वेताम्बर आगमों के अज्ञान का परिचायक नहीं

---

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन—डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, पृ० ८३

२. जैन तत्वज्ञान-मीमांसा—डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट १९८३, पृ० २७१
वही, पृ० २७३-२७४

है। उत्तराध्ययन (३०/२८) में विविक्त शय्यासन है—इसे पं० कोठिया जी क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ?

आदरणीय डॉ० कोठिया जी ने अपने लेख के अन्त में तत्त्वार्थ को दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने के लिए दो और नवीन प्रमाण दिये हैं, वे हैं—स्त्री परीषह और दंशमशक परीषह। उनका कहना है कि "तत्त्वार्थसूत्र (९।९) में २२ परीषहों के अन्तर्गत एक स्त्री परीषह है, जिससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ उस परम्परा का है, जो मात्र पुरुष की मुक्ति स्वीकार करती है और स्त्री को उसके मोक्ष में बाधक मानती है। वह परम्परा है, दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा स्त्री और पुरुष दोनों की मुक्ति स्वीकार करती है, अतः उसके अनुसार तो स्त्री परीषह के साथ-साथ पुरुष परीषह भी कहा जाना चाहिए, क्योंकि पुरुष भी स्त्री की मुक्ति में बाधक है, पर तत्त्वार्थसूत्रकार ने उसे नहीं कहा। उन्होंने मात्र स्त्री परीषह का ही कथन किया है।[1]

इसी प्रकार अन्य २२ परीषहों में 'दंशमशक' परीषह परिगणित है। उससे जाना जाता है कि यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा का है, क्योंकि उसके साधु पूर्ण दिगम्बर होते हैं और दंशमशक परीषह की बाधा उन्हीं को होती है, श्वेताम्बर सवस्त्र साधु को नहीं।[2]

किन्तु हम अत्यन्त विनम्रता से पूछना चाहेंगे कि परीषह को यह व्याख्या उन्होंने कहाँ से निकाल ली कि परीषह वह है, जो मुक्ति में बाधक है। परीषह का अर्थ है, वे कष्ट जो अनायास सहन करने पड़ते हैं। पुनः जो ग्रन्थ इन दो परीषहों का उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्परा का होगा, यह कहना भी उचित नहीं है। फिर तो उन्हें सभी श्वेताम्बर आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा का मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहों का उल्लेख तो प्रायः सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने एवं श्वेताम्बर आगमों में किया गया है और किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ में भी पुरुष परीषह का उल्लेख नहीं है। पं० कोठिया जी जैसे प्रौढ़ विद्वान् से हम इतने अपरिपक्व तर्क की अपेक्षा नहीं करते हैं।

पुनः यह भारतीय संस्कृति का सर्वमान्य तथ्य है कि सारे उपदेश ग्रन्थ एवं नियम ग्रन्थ पुरुष को प्रधान करके ही लिखे गये हैं किन्तु इससे स्त्री की उपेक्षा या अयोग्यता सिद्ध नहीं होती है। समन्तभद्र आदि दिगम्बर आचार्यों ने 'श्रावकाचार' लिखे हैं तथा चतुर्थ अणुव्रत को

---

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन—डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया।

'स्वदारसंतोषव्रत' कहा है एवं उस सम्बन्ध में सारे उपदेश एवं नियम पुरुष को लक्ष्य करके हो कहे, तो इससे क्या यह मान लिया जाये कि उन्हें स्त्री का व्रतधारी श्राविका होना भी स्वोकार्य नहीं है।

पुनः क्या दंशमशक परीषह दिगम्बर मुनि को ही होता था और मात्र लोकलज्जा के लिए अल्पवस्त्र रखने वाले प्राचीनकाल के श्वेताम्बर मुनियों को नहीं होता था ? क्या स्वयं पण्डित जी को या किसी गृहस्थ को यह कष्ट नहीं होता है, कम या अधिक का प्रश्न हो सकता है किन्तु यह परोषह तो सभी को होता है। फिर उत्तराध्ययन आदि अनेक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस परीषह का उल्लेख है। यदि दंशमशक परीषह का उल्लेख होना ही ग्रन्थ के दिगम्बर परम्परा का होने का प्रमाण है तो फिर डॉ० कोठिया जी को ऐसे सभी ग्रन्थों को दिगम्बर परम्परा का मान लेना चाहिए। यदि दिगम्बर मुनि को आहार करते हुए क्षुधा परीषह हो सकता है, तो श्वेताम्बर मुनि को वस्त्र रखते हुए अचेल परीषह क्यों नहीं हो सकता है ? परीषह वह है जो कभी समय आने पर होता है। तप का नियम लेकर क्षुधा-वेदनोय को सहना तप है, जबकि भोजन की इच्छा होते हुए भी आहार प्राप्त न होने से क्षुधा सहन करना क्षुधा परीषह है। पुनः आज भी बिहार जैसे प्रान्त में क्या सवस्त्र गृहस्थ इस परीषह (कष्ट) से पोड़ित नहीं होते हैं। कपड़े होने पर भी श्वेताम्बर साधु का सम्पूर्ण शरीर तो वस्त्र से ढका हुआ नहीं होता है अतः दंशमशक परिषह तो सचेल और अचेल दोनों को ही होता है।

क्या तत्त्वार्थभाष्य का श्वे० परम्परा से विरोध है ?

इसी प्रकार पं० कैलाशचन्द्र जी[1], पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार[2], पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री[3], पं० दरबारीलालजी कोठिया[4] आदि विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य का श्वेताम्बर मान्य आगमों में पाँच-छः

---

१. जैनसाहित्य का इतिहास भाग २, पं० कैलाशचंद जी, वर्णी संस्थान वाराणसी पृ० २६४–२६८

२. जैनसाहित्य और इतिहास पर विशदप्रकाश, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार पृ० १३२–१४७

३. सर्वार्थसिद्धि–सम्पादक पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रस्तावना, पृ० ६५–६८

४. (अ) जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, डॉ० दरबारीलाल कोठिया
(ब) जैन तत्त्व ज्ञानमीमांसा–डॉ० दरबारीलाल कोठिया पृ० १६९–२७५

स्थलों पर अन्तर दिखाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तत्त्वार्थ-सूत्र एवं तत्त्वार्थभाष्य का कर्ता श्वेताम्बर परम्परा का नहीं है। किन्तु प्रथम तो भाष्य एवं आगम में जहाँ विरोध है। उसकी चर्चा इन्हीं विद्वानों ने की हो ऐसा नहीं है। उसकी चर्चा तो तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन गणि ने भी की हैं और जहाँ-जहाँ उन्हें भाष्यकार की मान्यताओं का आगम से विरोध परिलक्षित हुआ वहाँ-वहाँ स्पष्ट निर्देश भी किया[१]। किन्तु आगमिक मान्यताओं से इस अन्तर के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति आगमिक परम्परा से भिन्न अन्य परम्परा के थे—यह सिद्ध नहीं हो जाता।

सबसे पहले तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिस समय उमास्वाति ने तत्त्वार्थ मूल और भाष्य की रचना की उस समय तक वलभी वाचना हो ही नहीं पायी थी। जब उमास्वाति वलभी वाचना के पूर्व हुए हैं, तो वलभी वाचना के संकलन में उनकी मान्यताओं से कुछ मतभेद हो गया हो, यह अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उमास्वाति के सामने कोई अन्य आगम थे। वलभी आगमों के संकलन होने के पूर्व विभिन्न गणों, शाखाओं एवं कुलों के जैन आचार्यों में मान्यता विषयक कितने ही मतभेद अस्तित्व में थे। आगमों में भी उनमें से कितनों का संकलन हो पाया है और कितनों का नहीं भी हो पाया है। अतः ४-६ प्रश्नों पर आगमिक मान्यताओं और उमास्वाति की मान्यताओं में मतभेद दिखाने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उमास्वाति किसी भिन्न परम्परा के थे। ऐसा मतभेद न केवल श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में है, अपितु दिगम्बर परम्परा जिन यापनीय ग्रन्थों को अपना आगम मान रही है, उनमें भी है। उदाहरण के रूप में कसायपाहुड की क्षपणा अधिकार की चूलिका का मन्तव्य और षट्खण्डागम के सत्कर्मप्राभृत की मान्यताओं में भी ऐसा मतभेद पाया जाता है। स्वयं धवला टीकाकार यह कहता है कि "दोनों प्रकार के वचनों में किसका वचन सत्य है, यह तो श्रुतकेवली या केवली ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं। अतः यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि कसायपाहुड और षट्खण्डागम में किसका वचन सत्य है। वर्त-

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य-टीका—सिद्धसेनगणि ७/१६, ८/१२ ९/६, ९/४८-४९ (तत्त्वार्थसूत्र इन सभी के भाष्य की टीका में सिद्धसेन गणि ने आगम से भिन्नता का स्पष्ट उल्लेख किया है)

मान काल के वज्रभीरू आचार्यों को तो दोनों का ही संग्रह करना चाहिए।[1] यह बात स्पष्ट रूप से इस तथ्य की सूचक हैं कि जैनधर्म और दर्शन संबंधी कितने ही प्रश्नों पर दूसरी-तीसरी शताब्दी में आचार्यों में मतभेद था। यदि कसायपाहुड और षट्खण्डागम में मतभेद के होते हुए भी वे एक ही परम्परा के ग्रन्थ माने जा सकते हैं तो फिर किंचित् मतभेदों की उपस्थिति में उमास्वाति को आगमिक परम्परा का मानने में क्या आपत्ति है? या तो दिगम्बर विद्वान् यह स्वीकार करें कि षट्खण्डागम और कसायपाहुड दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं के ग्रन्थ हैं या फिर यह मानें कि उमास्वाति भी मतभेदों के बावजूद उसी उत्तर भारत की आगमिक निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार्य हैं, जिनसे श्वेताम्बरों और यापनियों का विकास हुआ है और जो स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यतैर्थिकमुक्ति, केवलीभुक्ति आदि की समर्थिक रही। यदि यह तर्क दिया जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र का श्वेताम्बर मान्य आगमों से विरोध है, अतः वह श्वेताम्बर नहीं है, तो इसी प्रकार का दूसरा तर्क होगा, चूंकि तत्त्वार्थसूत्र का दिगम्बर परम्परा की मान्यता से विरोध है, अतः वह दिगम्बर भी नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर नहीं होने पर क्या वह यापनीय है? किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के रचना काल तक यापनीय उत्पन्न ही नहीं हुए थे अतः उसे यापनीय भी नहीं कहा जा सकता है—वस्तुतः वह उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा की उच्च नागरी शाखा और वाचक वंश का ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर और यापनीय दोनों का पूर्वज है। फिर भी इस बात की भी समीक्षा तो कर ही लेनी होगी कि क्या तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों से भिन्न तीसरी यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है?

क्या तत्त्वार्थ यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है?

उमास्वाति एवं उनके तत्त्वार्थसूत्र के सम्प्रदाय के प्रश्न को लेकर नाथूराम जी प्रेमी ने भी विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने ही सर्वप्रथम उनके यापनीय सम्प्रदाय का होने की सम्भावना प्रकट की है[2]। यहाँ हम उन्हीं

---

१. देखे-(अ) षट्खण्डागम १/१/२७ की धवलाटीका
षट्खण्डागम (धवलाटीका समन्वित) पुस्तक १, पृ० २२२-२२३
(ब) षट्खण्डामम परिशीलन—पं० बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ पृ० ७१०

२. जैनसाहित्य और इतिहास —पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५२२–५४७

के तर्कों की समीक्षा के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयास करेंगे कि क्या उमास्वाति वस्तुतः यापनीय परम्परा के थे ?

आदरणीय प्रेमी जी ने उमास्वाति के यापनोय होने की सम्भावना के सन्दर्भ में सर्वप्रथम यह तर्क दिया कि "श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं, उनमें कहीं उमास्वाति का उल्लेख नहीं है। वे लिखते हैं कि "दिगम्बर सम्प्रदाय की जो सबसे प्राचीन आचार्य परंपरा मिलती है वह वीर निर्वाण संवत् ६८३ अर्थात् विक्रम संवत् २१३ तक की है। यह तिलोयपण्णत्ति, महापुराण, हरिवंशपुराण, जंबुद्दीवपण्णत्ति, श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में यह लगभग एक सी है। परन्तु इस परम्परा में उमास्वाति या उनके किसी गुरु का नाम नहीं है।

आदिपुराण और हरिवंशपुराण जो विक्रम की नवीं शताब्दी के ग्रन्थ हैं। इनमें प्रायः सभी प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ताओं का स्तुतिपरक स्मरण किया गया है, परन्तु उनमें भी उमास्वाति स्मरण नहीं किये गये और यह असम्भव मालूम होता है कि उमास्वाति जैसे युगप्रवर्तक ग्रन्थकर्ता को वे भूल जाते। आदिपुराण के कर्ता तो उनके साहित्य से भी परिचित थे। क्योंकि उनके गुरु वीरसेन ने अपनी धवलाटीका में एक जगह गृद्धपिच्छाचार्य या उमास्वाति के तत्त्वार्थ के एक सूत्र को भी उद्धृत किया है और स्वयं उन्होंने भी जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उमास्वाति के भाष्यान्त के ३२ पद्य और प्रशमरति प्रकरण का भी एक पद्य अपनी जयधवला में उद्धृत किया है, वास्तव में वे उन्हें भिन्न सम्प्रदाय का आचार्य जानते होंगे।"[1]

पुनः प्रेमी जी लिखते हैं कि "दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति का उल्लेख करने वाली जो पट्टावलियाँ और अभिलेख मिलते हैं, वे १२वीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। इन पट्टावलियों में नन्दिसंघ की गुर्वावली के अनुसार जिनचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि या कुन्दकुन्द और कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति थे। दिगम्बर परम्परा के शक संवत् १०३७ अर्थात् विक्रम संवत् ११७२ (विक्रम की १२वीं शताब्दी) के शिलालेखों में जो पट्टावलियाँ अंकित हैं, उनमें यद्यपि उमास्वाति को दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, किन्तु उनमें कहीं भी एकरूपता नहीं है।"[2] इसी सन्दर्भ में प्रेमी जी का निम्न वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है।

"गुर्वावली, पट्टावली और शिलालेखों आदि के पूर्वोक्त उल्लेख बतलाते

१. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पृ० ५३०

२. वही, पृ० ५३१।

हैं कि उनके रचयिताओं को उमास्वाति की गुरु परम्परा का, नाम का और समय का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था, इसलिए उनमें परस्पर मतभेद और गड़बड़ है। पूर्वोक्त शिलालेखों में कोई भी लेख शक संवत् १०३७ अर्थात् विक्रम संवत् ११७२ से पहले का नहीं है और गुर्वावली, पट्टावली तो शायद उनके भी बहुत बाद में बनी है। जिस समय टीका ग्रन्थों के द्वारा उमास्वाति दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य मान लिये गये और उनको कहीं न कहीं अपनी परम्परा में बिठा देना लाजिमो हो गया, उस समय के बाद की ही उक्त पट्टावलियों, शिलालेखों आदि की सृष्टि है। विभिन्न समयों के लेखकों द्वारा लिखे जाने के कारण उनमें एकवाक्यता भी नहीं रह सकी।"[२]

दूसरे शब्दों में उमास्वाति का उल्लेख करने वाली दिगम्बर पट्टावलियों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उमास्वाति को यापनीय सिद्ध करने हेतु यह भी तर्क दिया है कि जिस तरह दिगम्बर परम्परा की प्राचीन पट्टावलियों में उमास्वाति का नाम नहीं है उसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों में भी उनका उल्लेख नहीं मिलता है। वे लिखते हैं कि "लगभग यही हालत श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों आदि की भी है। उनमें सबसे प्राचीन कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र स्थविरावलि हैं जो वीर निर्वाण संवत् ९८० अर्थात् विक्रम संवत् ५१० में संकलित की गई थी। उमास्वाति के विषय में इतना तो निश्चित है कि वे वि० सं० ५१० के पहले हो चुके हैं। फिर भी उनमें उमास्वाति का नाम नहीं है। नन्दिसूत्र में वाचनाचार्यों की भी सूची दी हुई है परन्तु उनमें भी उमास्वाति या उनके गुरु शिवश्री, भुण्डपाद, मूल आदि किसी भी वाचक का नाम नहीं है। नन्दिसूत्र की २६वीं गाथा में 'हरियगुत्तं साइं च वन्दे' (हारितगोत्रं स्वातिं च वन्दे) पद हैं। चूँकि उमास्वाति के नाम का उत्तरार्ध 'स्वाति' है, इसलिए धर्मसागर जी ने स्वाति को ही उमास्वाति समझ लिया ओर यह नहीं सोचा कि तत्त्वार्थकर्ता उमास्वाति का गोत्र तो कौभीषणि है और स्वाति का हारीत, इसके सिवाय दोनों के गुरु भी अलग-अलग हैं। पिछले समय की रची हुई, जो अनेक श्वेताम्बर पट्टावलियाँ हैं उनमें अवश्य उमास्वाति का नाम आता है, परन्तु एकवाक्यता का वहाँ भी अभाव है।"[१]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० ५३१

'दुःषमाकालश्रमणसंघस्तोत्र' (विक्रम की ११वीं सदी) में हरिभद्र और जिनभद्रगणि के बाद उमास्वाति को लिखा है जबकि स्वयं हरिभद्र तत्त्वार्थभाष्य के एक टीकाकार हैं और जिनभद्रगणि ने अपना विशेषावश्यक भाष्य वि० सं० ६६० में समाप्त किया है।

धर्मसागर उपाध्यायकृत तपागच्छपट्टावली (वि० सं० १६४६) में जिनभद्र, विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभ के बाद उमास्वाति को युगप्रधान बतलाया है और उनका समय वीर नि० सं० ७२०, फिर उनके बाद यशोदेव का नाम है। इसके विरुद्ध देवविमल की महावीर-पट्टपरम्परा (वि० सं० १६५६) में रविप्रभ और यशोदेव के बीच उमास्वाति का नाम ही नहीं है और न आगे कहीं है।

विनयविजयगणि ने अपने लोकप्रकाश (वि० सं० १७०८) में उमास्वाति को ग्यारहवाँ युगप्रधान बतलाया है, जो जिनभद्र के बाद और पुष्यमित्र के पहले हुए।

रविवर्द्धनगणि (वि० सं० १७३१) ने पट्टावलीसारोद्धार में उमास्वाति को युगप्रधान कहकर उनका समय वीर नि० सं० ११९० लिखा हैं। उनके बाद वे जिनभद्र को बतलाते हैं, जबकि धर्मघोषसूरि उमास्वाति को जिनभद्र के बाद रखते हैं।

धर्मसागर ने तो अपनी तपागच्छ पट्टावली (सटीक) में दो उमास्वाति खड़े कर दिये हैं, एक तो विक्रम संवत् ७२० में रविप्रभ के बाद होने वाले, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है और दूसरे आर्य महागिरि के बहुल और बलिस्सह नामक दो शिष्यों में से दूसरे बलिस्सह के शिष्य, जिनका समय वीर नि० ३७६ से कुछ पहले पड़ता है और उन्हें ही तत्त्वार्थादि का कर्ता अनुमान कर लिया है।

गरज यह कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लेखक भी उमास्वाति की परम्परा और समयादि के सम्बन्ध में अँधेरे में हैं। उन्होंने भी बहुत पीछे उन्हें अपनी परम्परा में कहीं न कहीं बिठाने का प्रयत्न किया है[1]!"

अब हम सम्माननीय प्रेमी जी के इन तर्कों की समीक्षा करेंगे और देखेंगे कि उनके तर्कों में कितना बल है। उनका यह कथन सत्य है कि जहाँ प्राचीन श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलियाँ उमास्वाति के सन्दर्भ में मौन है वहाँ परवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलियों में उनका

1. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० ५३१-५३२

उल्लेख होते हुए भी उनके सन्दर्भ में इतने मत-वैभिन्य हैं कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। पं० नाथूराम जी प्रेमी के साथ हमें भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि इन पट्टावलियों के आधार पर उमास्वाति की परम्परा का निर्धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु इस आधार पर उनका उमास्वाति को यापनीय मान लेना हमें समुचित प्रतीत नहीं होता है। यदि जिनसेन ने हरिवंशपुराण में सभी प्रमुख ग्रन्थकर्ताओं की स्तुति की, तो फिर उन्होंने उमास्वाति को क्यों छोड़ दिया ? क्या मात्र इसीलिए कि वे उनकी परम्परा से भिन्न थे। आश्चर्य तो यह है कि जब जिनसेन अपने से भिन्न परम्परा के सिद्धसेन का उल्लेख कर सकते हैं, तो फिर उमास्वाति का उल्लेख क्यों नहीं कर सकते हैं ? यदि हम कुछ समय के लिए यह भी मान लें कि सिद्धसेन यापनीय थे, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है, तो यह आश्चर्य और अधिक बढ़ जाता है। यदि प्रेमी जी के अनुसार सिद्धसेन और उमास्वाति दोनों ही यापनीय हैं तो फिर जिनसेन ने एक यापनीय आचार्य का तो उल्लेख किया और दूसरे को क्यों छोड़ दिया ? पुनः हम पूर्व में यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि जिनसेन का हरिवंशपुराण भी उसी पुन्नाटसंघ का ग्रन्थ है, जो यापनीयों के 'पुन्नागवृक्षमूलगण' से निकला है। अतः उन्हें अपनी पूर्वज परम्परा के किसी आचार्य का उल्लेख करने में क्या आपत्ति हो सकती थी ? पुनः जब उसमें वीर निर्वाण सं० ६८३ के पश्चात् के अपनी परम्परा के आचार्यों की एक लम्बी सूची दी गई है, जिसमें अनेक यापनीय आचार्य भी हैं तो उस सूची में उमास्वाति का नाम क्यों नहीं है ? एक संभावना यह व्यक्त की जा सकती है कि जिनसेन उमास्वाति को यापनीय एवं दिगम्बर दोनों न मानकर संभवतः श्वेताम्बर मानते होंगे और इसी कारण उनका उल्लेख नहीं किया होगा, किन्तु उन्होंने श्वेताम्बर होने के कारण उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया, यह मानने में भी एक कठिनाई यह है कि जब उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य के रूप में ही सुविख्यात सिद्धसेन का स्मरण किया तो फिर उमास्वाति को क्यों छोड़ दिया ? हमारी दृष्टि में जिनसेन के द्वारा उमास्वाति का स्मरण नहीं किये जाने का कारण उनका यापनीय होना नहीं हो सकता है।

मेरी दृष्टि में वास्तविकता इससे भिन्न है। यह स्पष्ट है कि महावीर के संघ में भद्रबाहु के पश्चात् गण, कुल और शाखाओं के भेद प्रारम्भ हुए और फिर निर्ग्रन्थ संघ अनेक विभागों और उपविभागों में बँटता हो गया। जो स्थविरावलियाँ और पट्टावलियाँ हमें उपलब्ध हैं वे सभी परम्परा

विशेष के साथ जुड़ी हुई हैं। जब एक समय में अनेक आचार्य हों तो उन सभी का परम्परा विशेष की पट्टावलियों में उल्लेख नहीं होता है। प्रत्येक वर्ग अपनी-अपनी परम्परा के आचार्यों का उल्लेख करता है और दूसरों को छोड़ देता है। पुनः जिस आचार्य की पट्ट परम्परा दीर्घजीवी नहीं होती, वे प्रायः विस्मृत कर दिये जाते हैं। आज अनेक ऐसे गण, कुल और शाखाओं के उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनकी आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते। उनके ग्रन्थों में उपलब्ध सूचनाओं के अतिरिक्त हम उनके सम्बन्ध में अज्ञान में होते हैं। उच्चनागरी शाखा की आचार्य परम्परा से सम्बन्धित विवरण भी उसी प्रकार लुप्त हो गये जैसे भद्रबाहु से निकले गोदासगण और उसकी कोटिवर्षिया, ताम्रलिप्तिका, पोण्ड्र-वर्धनिका आदि शाखाओं और उनमें हुए आचार्यों के विवरण आज अनुपलब्ध या लुप्त हैं।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उमास्वाति जिस उच्चनागरी शाखा में हुए हैं वह शाखा अधिक दीर्घजीवी नहीं रहीं। विक्रम की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी के बीच मात्र कुछ अभिलेखों और साहित्यिक सूचनाओं से ही इसके अस्तित्व का बोध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावलि भी इसके संस्थापक शान्तिश्रेणिक के अलावा इस परम्परा के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं करती है।

अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर प्राचीन स्थविरावलियों में उमास्वाति का उल्लेख न होना केवल इस बात का सूचक है कि उनकी उच्चनागरी शाखा और उसका वाचक वंश अधिक दीर्घजीवी नहीं रहा है और काल-क्रम में तत्सम्बन्धी सामग्री लुप्त हो गई। कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों में उमास्वाति का उल्लेख इसलिए नहीं हुआ कि ये स्थवि-रावलियाँ परवर्तीकाल में मुख्य रूप से कोटिकगण की वज्री शाखा से सम्ब-न्धित रही हैं। उसमें आर्य शान्तिश्रेणिक से निकली कोटिकगण की उच्च-नागरी शाखा के शान्तिश्रेणिक के आगे की आचार्य परम्परा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा के अन्य आचार्यों के उल्लेख हैं। अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर प्राचीन पट्टावलियों में उमास्वाति के उल्लेख का अभाव होने से और परवर्ती पट्टावलियों में उल्लेख होते हुए भी एक वाक्यता का अभाव होने से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि वे यापनीय परम्परा के थे। जब उन्होंने स्वयं ही अपनी उच्चनागरी शाखा का उल्लेख कर दिया है तो उसमें सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उनकी यह उच्चनागरी शाखा न तो श्वेता-

म्बर है और न यापनीय, अपितु दोनों की ही पूर्वज है। अतः उमास्वाति श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्व पुरुष हैं। पुनः उमास्वाति उस काल में हुए हैं जबकि निर्ग्रन्थ संघ में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे भेद अस्तित्व में ही नहीं आये थे। अतः परवर्ती काल की इन साम्प्रदायिक पट्टावलियों में उनके सम्बन्ध में एकरूपता नहीं होना स्वाभाविक हैं। उनके तत्त्वार्थसूत्र की स्वीकृति और उसकी प्रसिद्धि के बाद ही श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं ने उन्हें अपनी पट्टावलियों स्थान देने का प्रयास किया और फलतः उनमें एकरूपता का अभाव रहा।

भाष्य में यापनीयत्व सिद्ध करने के लिए पं० नाथूरामजी प्रेमी ने एक तर्क यह दिया है कि तत्त्वार्थभाष्य में अचौर्य व्रत की जो भावनाएँ उल्लेखित की गई हैं, वे सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नहीं हैं, अपितु भगवती आराधना के अनुसार हैं। भगवती आराधना यापनीय ग्रन्थ है, निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि—'इससे भी यह मालूम होता है कि भाष्यकार और भगवती आराधना के कर्ता एक ही सम्प्रदाय के हैं।[1]'

इस आधार पर भाष्य को यापनीय मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि भाष्य में अचौर्य व्रत की जो भावनाएँ उल्लेखित हैं, वे आचारांग और समवायांग में भी मिलती हैं।[2] वस्तुतः आगम साहित्य से ही ये भावनाएँ भाष्य और भगवती आराधना में गई हैं। अतः यह कथन भाष्य के यापनीयत्व का प्रमाण नहीं है। इससे केवल इतना ही फलित होता है कि भाष्य और भगवती आराधना दोनों में आगमों का अनुसरण हुआ है। इससे भाष्य और उसके कर्त्ता को आगम की उस परम्परा का अनुसरण कर्ता कहा जा सकता है, जो आगे चलकर यापनीयों में भी उपलब्ध होती है। यापनीय ग्रन्थों से भाष्य की यह समानता मात्र इसी बात की सूचक है कि भाष्यकार यापनीय परम्परा का पूर्वज है न कि वह यापनीय है। महाव्रतों की भावनाओं का यह उल्लेख श्वेताम्बर मान्य आगमों—आचारांग, समवायांग, आचारांगचूर्णि, आवश्यकचूर्णि आदि में मिलता है। शब्द एवं क्रम में कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर है किन्तु मूल भावना में कहीं कोई अन्तर नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य मूल पाठ में भावनाओं का कोई उल्लेख नहीं है। उसमें केवल इतना ही कहा गया है कि इन महाव्रतों की स्थिरता के लिए पाँच-पाँच भावनाएँ कही गयी हैं। लेकिन सर्वार्थसिद्धि और भगवती आराधना

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास—पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५३५

का यह अन्तर उनकी परम्परा भिन्नता का सूचक है। सर्वार्थसिद्धिकार के लिए भावनाओं को मूलपाठ के अन्तर्गत रखना इसलिए भी आवश्यक था कि उसके पास आगम या आगमतुल्य कोई ग्रन्थ नहीं था। यही कारण है कि उसने उसे मूलपाठ में सम्मिलित किया। इससेसर्वार्थसिद्धि के मूलपाठ के विकसित होने की और भाष्यमान्य पाठ से परवर्ती होने की सूचना भी मिल जाती है। सर्वार्थसिद्धि में पाँचों महाव्रतों की जिन भावनाओं का विवेचन है वे आगमों से आंशिक ही समानता रखती हैं। जबकि तत्त्वार्थ-भाष्य की विवेचना आगम एवं भगवतीआराधना के अनुकूल ही है। अन्त में पुनः हम यही कहना चाहेंगे कि तत्त्वार्थभाष्य और भगवती आराधना में जो साम्य है वह आगमिक मान्यताओं के अनुसरण के कारण है, भाष्य के यापनीय होने के कारण नहीं, भाष्य तो यापनीय परम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीय सम्प्रदाय चौथी-पाँचवीं शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।

भाष्य में यापनीयत्व को सिद्ध करने के लिए आदरणीय प्रेमी जी ने एक तर्क यह भी दिया है कि नवें अध्याय के सातवें सूत्र में अनित्य, अशरण आदि १२ अनुप्रेक्षाओं के नाम दिये गये है, भाष्य में कहा गया है 'एताद्वादशानुप्रेक्षाः' (ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं)। प्रेमी जी, डॉ० एन० एन० उपाध्ये के सन्दर्भ से यह भी बताते हैं कि आगमों में कहीं भी १२ अनुप्रेक्षाएँ नहीं मिलतीं, कहीं चार कहीं दो और कहीं एक मिलती हैं जबकि भगवती आराधना की गाथा ७१५-७८ में इन्हीं १२ भावनाओं का खूब विस्तार से वर्णन है, इससे भी उमास्वाति और भगवती आराधना के कर्ता एक ही परम्परा के मालुम पड़ते हैं। कम से कम उमास्वाति उस परम्परा के नहीं जान पड़ते जो इस समय उपलब्ध आगमों की अनुयायी नहीं है। मूलाचार में भी द्वादश अनुप्रेक्षाओं का विस्तृत विवरण है और वह भी आराधना की परम्परा का ग्रन्थ है।"[1]

इस सन्दर्भ में आदरणीय प्रेमीजी को उपाध्ये जी द्वारा जो सूचना मिली है वह भ्रान्तिपूर्व है। यह कहना कि आगम में कहीं पूरी बारह अनुप्रेक्षाएँ नहीं मिलती हैं, श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य का सम्यक् अनुशीलन न होने का ही परिणाम है। आगम साहित्य में न केवल १२ अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है अपितु उनका क्रमबद्ध विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। श्वे० मान्य आगमों का एक वर्ग प्रकीर्णक कहा जाता है। प्रकीर्णकों

१. जैन साहित्य और इतिहास—पं० नाथुरामजी प्रेमी पृ० ५३५

के अन्तर्गत मरणविभक्ति एक प्राचीन प्रकीर्णक है, इसकी ५७० से लेकर ६४० तक की ७१ गाथाओं में बारह भावनाओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।[1] मरणविभक्ति की भावना सम्बन्धी इन ७१ गाथाओं में भी अनेक भगवती-आराधना और मूलाचार में उपलब्ध होती हैं। अतः तत्त्वार्थ-भाष्य, भगवती-आराधना और मूलाचार में, जो साम्य परिलक्षित होता है, वह इन तीनों के कर्ताओं द्वारा का आगमिक ग्रन्थों के अनुसरण के कारण ही है। भगवती-आराधना और मूलाचार यापनीय ग्रन्थ हैं और यापनीय आगम मानते थे। मरणविभक्ति तत्त्वार्थ-भाष्य से प्राचीन है, वस्तुतः यापनीय और तत्त्वार्थ-भाष्य में जो समरूपता है, उसका कारण यह है कि उन दोनों का मूल स्रोत एक ही है। इसलिए दोनों की निकटता से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि तत्त्वार्थभाष्य यापनीय है। भावनाओं की चर्चा के आधार पर उन्हें जिस प्रकार यापनीय सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार श्वेताम्बर भी सिद्ध किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि वे इन दोनों सम्प्रदायों के पूर्वज हैं।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इसके अतिरिक्त भाष्य का श्वेताम्बर सम्प्रदाय से किन बातों में विरोध आता है और जिसे भाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेनगणि आगम विरोधी मानते हैं, इसकी चर्चा की है, इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्न सात प्रश्न उपस्थित किये हैं[2] जिन्हें हम अविकल रूप में नीचे प्रस्तुत कर रहे है—

१—अध्याय २, सूत्र १७ के भाष्य में उपकरण के दो भेद किये हैं, बाह्य और अभ्यन्तर। इसपर सिद्धसेन कहते हैं कि आगम में ये भेद नहीं मिलते। यह आचार्य का ही कहीं का सम्प्रदाय है[3]।

२—अध्याय ३, सूत्र के भाष्य में रत्नप्रभा के नारकीयों के शरीर की ऊँचाई ७ धनुष, ३ हाथ और ६ अंगुल बतलाई है[4]। सिद्धसेन कहते है

१. देखें—पइण्णयसुत्ताइं-प्रथम भाग-सं० मुनि श्री पुण्यविजय जी, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई—मरणविभत्ति पइण्णयं-गाथा ५७०—६४० (पृ० १५१ से १५७ तक)।

२. देखे—जैन साहित्य और इतिहास-पं० नाथूरामजी प्रेमी पृ० ५३७-५३८

३. "आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।"

४. तिलोयपण्णत्ति में तत्त्वार्थ-भाष्य के ही समान अवगाहना बतलाई गई है—सत्त-ति-छ-हत्थंगुलाणि कमसो हवंति घम्माए। अ० २, ११६

कि भाष्यकार ने यह अतिदेश से कही है। मैंने तो आगम में कहीं यह प्रतरादि भेद से नारकीयों की अवगाहना नहीं देखी[1]।

३—अ० ३, सू० ९ के भाष्य में जो परिहाणि बतलाई है, उसके विषय में सिद्धसेन कहते हैं कि यह परिहाणि गणित प्रक्रिया के साथ जरा भी ठीक नहीं बैठती। आर्षानुसारी गणितज्ञ इसे अन्यथा ही वर्णन करते हैं[2]। हरिभद्रसूरि को भी इसमें कुछ संदेह हुआ है[3]।

४—अ० ३, सूत्र १५ के भाष्य की टीका करते हुए सिद्धसेन लिखते हैं, इस अन्तरद्वीपक भाष्य को दुर्विदग्धों ने प्रायः नष्ट कर दिया है जिससे भाष्य-पुस्तकों में (भाष्येषु) ९६ अन्तरद्वीप मिलते हैं[4]। पर यह अनार्ष है। वाचकमुख्य सूत्र का उल्लंघन नहीं कर सकते। यह असंभव है[5]।

५—अ० ४, सूत्र ४२ के भाष्य पर सिद्धसेन कहते हैं कि भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्ध में भी जघन्य आयु बत्तीस सागरोपम बतलाई है, सो न जाने किस अभिप्राय से, आगम में तो तेतीस सागरोपम है।[6]

---

१. "उक्तमिदमतिदेशतो भाष्यकारेणास्ति चैतत् न तु मया क्वचिदागमे दृष्टं प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।"

२. "एषा च परिहाणिः आचार्योक्ता न मनागपि गणितप्रक्रियया संगच्छते। गणितशास्त्रविदो हि परिहाणिमन्यथा वर्णयन्त्यागमानुसारिणः।"

३. गणितज्ञा एवात्र प्रमाणं।

४. सर्वार्थसिद्धि और तिलोयपण्णत्ति आदि दिगम्बर-ग्रन्थों में भी ९६ ही अन्तरद्वीप बतलाये हैं। भाष्य में भी ९६ का ही पाठ रहा होगा। परन्तु आश्चर्य है कि मुद्रित भाष्यपाठों में ५६ ही अन्तरद्वीप मुद्रित हैं और उक्त भाष्यांश के नीचे ही ५६ अन्तरद्वीपों की सूचना देनेवाली सिद्धसेन की तथा हरिभद्र की टीका मौजूद है। प्रतिलिपिकारों अथवा मुद्रित करानेवालों का यह अपराध अक्षम्य है।

५. "एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपिका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्। नापि च वाचकमुख्याः सूत्रोल्लंघनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्।...."

(हरिभद्रीयवृत्ति में भी बिल्कुल यही पाठ है।)

६. "भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत्सागरोपमान्यधीता, तन्न विद्मः केन अभिप्रायेण। आगमस्तावदयं....।"

६—अ० ४, सूत्र २६ के भाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ भेद हैं। परन्तु भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, स्थानांगादि में नौ बतलाये हैं।[1]

७—अ० ९, सूत्र ६ के भाष्य में भिक्षुप्रतिमाओं के जो १२ भेद किये हैं, उनको ठीक न मानकर सिद्धसेन कहने हैं कि यह भाष्यांश परम ऋषियों के प्रवचन के अनुसार नहीं है किन्तु पागल का प्रलाप है। वाचक तो पूर्ववित् होते हैं, वे ऐसा आर्षविरोधी कैसे लिखते ? आगम को ठीक न समझने से जिसे भ्रान्ति हो गई है ऐसे किसी ने यह रच दिया है।[2]

इस तरह और भी अनेक स्थानों में वृत्तिकार ने आगम-विरोध बतलाया है, जिसका स्थान भाव से उल्लेख नहीं किया जा सका। इस विरोध से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि भाष्यकार का सम्प्रदाय सिद्धसेनगणि के सम्प्रदाय से भिन्न है और वह यापनीय हो सकता है।

यह सत्य है कि उपर्युक्त तथ्य श्वेताम्बर परम्परा की इन मान्यताओं के विरोध में जाते हैं जो भाष्य पर वृत्ति लिखे जाने के काल में स्थिर हो चुकी थी, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों का संकलन होने तक अर्थात् विक्रम की छठीं शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा में और यापनीय परम्परा में भी सैद्धान्तिक प्रश्नों पर आन्तरिक एकरूपता नहीं थी। आगमों का लेखन हो जाने के बाद भी श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में जितने अधिक मतभेद और मान्यता भेद रहे हैं, उतने दिगम्बर परम्परा में नहीं थे। श्वेताम्बर आगम साहित्य में ये अन्तर्विरोध आज भी परिलक्षित होते हैं। यही स्थिति कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम आदि यापनीय साहित्य की भी है। कल्पसूत्र की स्थविरावलि से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के काल से उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा जो श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज है, अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभाजित होती गई। ये विविध गण, कुल एवं शाखाएँ न न केवल शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा के आधार पर बने थे, अपितु इनमें मान्यता भेद भी था। तब तत्त्व स्वरूप एवं कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं के सन्दर्भ में अनेक मतभेद अस्तित्व में आ गये थे। उपलब्ध आग-

---

१. "भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रितः। आगमे तु नवधैवाधीता।"

२. "नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारि भाष्यं किं तर्हि प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधं आर्षविसंवादिनिबध्नीयात्। सूत्रानवबोधादुपजाताभ्रान्तिना केनापि रचितमेतत्।"

मिक व्याख्या साहित्य में आगमों की अनेक वाचनाओं एवं वाचनाभेदों के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। वलभी वाचना और माथुरी वाचना में भी अन्तर था। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में आगमों के जो उदाहरण उपलब्ध होते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि उन्हें जो आगम ग्रन्थ या उनके अंश उपलब्ध थे, वे सम्भवतः माथुरी वाचना के रहे हैं। हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि श्वेताम्बर परम्परा में वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे वज्रीशाखा के हैं। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति उच्चनागर शाखा के हैं, अतः यह सम्भव है कि उच्चनागरशाखा और वज्री शाखा में कुछ मान्यता भेद रहा हो। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने जिन मतभेदों की चर्चा की है उनमें से कुछ मान्यताएँ तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। तिलोयपण्णत्ति अपने मूल स्वरूप में यापनीय परम्परा का ग्रंथ रहा है।

यद्यपि बाद में उसे परिवर्तित कर दिया गया। तिलोयपण्णत्ति का आधार भी आगम ही है और इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उमास्वाति के समक्ष आगम सम्बन्धी विभिन्न वाचनाएँ थीं और उनमें से वे किसी एक का अनुसरण कर रहे थे।

नारकियों के शरीर की ऊँचाई तथा अन्तर्द्वीपों की संख्या के सम्बन्ध में भाष्यकार का मत तिलोयपण्णत्ति के समान है। जहाँ तक लोकान्तिक देवों को संख्या का प्रश्न है श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम स्थानांग और भगवती में आठ और नौ दोनों ही तरह की मान्यताएँ मिलती हैं। अतः सिद्धसेनगणि के द्वारा दिखाये गये इन मतभेदों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उमास्वाति उस पूर्वज धारा के नहीं थे, जिससे यापनीय और श्वेताम्बर धारायें विकसित हुई हैं।

यह स्मरण रखना ही होगा कि उमास्वाति बलभीवाचना (वीर नि० संवत् ९८०) के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए—अतः यह स्वाभाविक था कि उनके मन्तव्यों का वलभीवाचना के आगमों से आंशिक मतभेद हो। यह भी सम्भव है कि बलभीवाचना के समय मध्य देश में स्थित उच्चनागर शाखा के प्रतिनिधि उपस्थित नहीं रहे हों और उनके मन्तव्यों का संकलन न हो पाया हो।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उमास्वाति के यापनीय होने के लिए एक तर्क यह भी दिया है कि उनके गुरु घोषनन्दी और शिव भी उनके यापनीय होने का संकेत देते हैं। क्योंकि नन्दयन्त नाम यापनीय परम्परा में

मिलते हैं जैसे शिवार्य के गुरु मित्रनन्दि, जिननन्दि आदि। उन्होंने यह भी सम्भावना प्रकट की है कि उमास्वाति के वाचनाप्रगुरु शिव श्री आर्य शिव ही हों। यह भी सम्भव है कि वाचनागुरु मूल का भी पूरा नाम मूलनन्दी हो।[1]

आदरणीय प्रेमी जी इस सम्भावना को स्वीकार करने में कतिपय कठिनाईयाँ हैं। सर्व प्रथम आदरणीय प्रेमी जी की यह मान्यता कि नन्दी नामान्त नाम केवल यापनीय नन्दीसंघ में रहे हैं, समुचित नहीं है। कल्पसूत्र स्थविरावली या नन्दीसूत्र स्थविरावली के अतिरिक्त मथुरा के अभिलेखों में भी नन्दी नामान्त नाम मिलते हैं। दूसरे यह कि जब प्रेमी जी स्वयं तत्त्वार्थभाष्य को उमास्वाति की कृति मानते है और यह भी मानते हैं कि भाष्य में किये गये उनके दीक्षा गुरु और प्रगुरु तथा वाचना गुरु और प्रगुरु के नाम यथार्थ हैं तो फिर उन्हे यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें जो उच्चनागर शाखा और वाचक वंश का उल्लेख है वह भी प्रामाणिक है। स्पष्ट है कि यापनीयों में किसी भी उच्चनागर शाखा का उल्लेख नहीं मिलता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावलि में स्पष्ट रूप से उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। उच्चनागर शाखा के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी के नौ अभिलेख भी मथुरा से प्राप्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि न तो दिगम्बर परम्परा में किसी उच्चनागर शाखा का उल्लेख है और न यापनीय परम्परा में उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। जबकि श्वेताम्बरों की पूर्वज धारा में इसका उल्लेख है। नागरशाखा का अस्तित्व हमें अभिलेखों के आधार पर तृतीय शताब्दी तक मिलता है। यही काल उमास्वाति का भी सिद्ध होता है। इस काल तक यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से अस्तित्व में नहीं आ पायी थी। यदि हम महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व मानते हैं तो कल्पसूत्र की सूचनानुसार उच्चनागर शाखा विक्रम संवत् के लगभग ४० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आयी। तथा वस्त्रपात्र सम्बन्धी विवाद भी विक्रम संवत् की लगभग द्वितीय शती के अन्तिम दशक एवं तृतीय शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ होगा। आवश्यक मूलभाष्य की सूचना के अनुसार भी उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में शिवार्य और आर्यकृष्ण के बीच वस्त्र एवं पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि आर्यकृष्ण और शिवभूति के मध्य वीर निर्वाण संवत् ६०९ तदनुसार

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पं० नाथुराम जी प्रेमी, पृ० ५३३।

विक्रम संवत् १९९ अर्थात् विक्रम की द्वितीय शताब्दी के अन्त तथा तृतीय शताब्दी के प्रारम्भ में वस्त्र, पात्र को लेकर विवाद हुआ था। तथापि संघभेद नहीं हुआ था, वह तो उनके शिष्य-प्रशिष्यों के काल में अर्थात् तीसरी शती के उत्तरार्ध में हुआ।[1] आदरणीय प्रेमी जी इस मान्यता में कुछ सत्यता हो सकती है कि ये ही आर्य शिवभूति उमास्वाति के प्रगुरु शिवश्री रहे हों, क्योंकि दोनों ही उसी कोटिकगण के हैं। उन्हें प्रगुरु मानने पर उमास्वाति का काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के अन्त और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी माना जा सकता है। इससे यही फलित होता है कि संघ भेद की घटना और उमास्वाति समकालिक ही है यह भी संभव है कि उमास्वाति के गुरुमूल या मूलनन्दी के नाम मूलगण निकला हो, जो दक्षिण में मूलसंघ के नाम से जाना गया हो और जैसा कि हम लिख चुके हैं इसी मूलगण/मूलसंघ से यापनीयों का विकास हुआ है।[3] मूलसंघ के ये अभिलेख भी विक्रम सं० ४२७ (ई० सन् ३७०) और विक्रम सं० ४७२ (ई० सं० ४२५) के लगभग के अनुमानित है किन्तु ये भी उमास्वाति के बाद के हैं। अतः यह निश्चित है कि श्वेताम्बर, दिगम्वर या यापनीय संघ उमास्वाति के कुछ बाद के हैं। यदि बोटिक यापनीयों के पूर्वज हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि उमास्वाति की उच्चनागरी शाखा भी यापनीयों की पूर्वज है। वस्तुतः उमास्वाति उस काल में हुए हैं जब उत्तर भारत में मान्यता भेद अपनी जड़ें तो जमा रहे थे, किन्तु उनके आधार पर सम्प्रदायों का ध्रुवीकरण नहीं हो पाया था। उनका काल सम्प्रदायगत मान्यताओं एवं स्पष्ट संघभेद के स्थिरीकरण के पूर्व का है।

मेरी दृष्टि में उमास्वाति दिगम्बर परम्पा के तो बिल्कुल ही नहीं हैं, वे यापनीय भी नहीं हैं, अपितु उत्तर भारत को उस निर्ग्रन्थ परम्परा में

---

१. बोडिय सिवभूईओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती।
कोडिण्ण कोट्वीरा परंपरा फासमुप्पणा॥
—आवश्यक मूलभाष्य १४८ आवश्यकनियुंक्ति हरिभद्रीय वृत्ति उद्धृत पृ० २१५।

२. देखें—महावीर का निर्माण-काल-डॉ० सागरमल जैन, श्रमण, अक्टूबर-दिसम्बर ९२।

३. देखें—श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुरसंघ : एक विमर्श, डॉ० सागरमल जैन, श्रमण-जुलाई-सितम्बर ९२।

हुए है जिससे एक ओर बोटिक (यापनीयों) का विकास हुआ, तो दूसरी ओर श्वेताम्बरों का। वे उस कोटिकगण और उच्चनागर शाखा में हुए हैं जिससे विभक्त होकर उत्तर भारतीय सचेल-अचेल परम्पराएँ विकसित हुई हैं। चाहे उमास्वाति को आगमों का अनुसरण करने वाली एवं अपवाद मार्ग में वस्त्र-पात्र की समर्थक परम्परा के होने के कारण और कल्पसूत्र को स्थविराली में उनकी उच्च नागरी शाखा का उल्लेख होने के कारण श्वेताम्बर कहा जा सकता है, किन्तु वे उस अर्थ में श्वेताम्बर नहीं हैं, जिस अर्थ में आज हम उन्हें श्वेताम्बर समझ रहे हैं। मात्र वे वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के पूर्वज हैं। पाटलिपुत्र में तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की रचना भी यही सिद्ध करती है कि वे उत्तर भारत के उस निर्ग्रन्थ संघ के सदस्य थे, जिसके उत्तराधिकारी श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही हैं और इस दृष्टि से वे श्वेताम्बरों एवं यापनीयों के पूर्वज हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में आगमों का अनुसरण तथा श्वेताम्बर और यापनीयों द्वारा मान्य अनेक अवधारणाओं की उपस्थिति यही सिद्ध करती है, कि आगमों की तरह श्वेताम्बर और यापनीयों को तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं और इसीलिए दोनों ही उसे अपनी परम्परा का कहें, तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। हाँ इतना अवश्य है कि दिगम्बर परम्परा को तत्त्वार्थ सीधे उत्तराधिकार में नहीं मिला है। उसने उसे यापनीयों से प्राप्त किया है। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक पर तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भाष्य और दिगम्बर परम्परा में मान्य सर्वार्थसिद्धि की टीका में कितनी साम्यता है, इसे पं० नाथूरामजी प्रेमी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है और उन्होंने यह भी बताया है कि भाष्य की लेखन शैली प्रसन्न एवं गम्भीर होते हुए भी दार्शनिकता की दृष्टि से परिशीलित है। जैन साहित्य में दार्शनिक शैली के विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, ऐसा विकास भाष्य में नहीं दिखाई देता। भाष्य कम विकसित है। अर्थकी दृष्टि से भी सर्वार्थसिद्धि (भाष्य की अपेक्षा) अर्वाचीन मालूम होती है। जो बात भाष्य में है, सर्वार्थसिद्धि में उसको विस्तृत करके और उस पर अधिक चर्चा करके निरूपण किया गया है। व्याकरण और जैनेतर दर्शनों की चर्चा भी उसमें अधिक है। जैन परिभाषाओं का जो विशदीकरण और वक्तव्य का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है, वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा उसमें तार्किकता

अधिक है और अन्य दर्शनों का खण्डन भी जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि से भाष्य को प्राचीन सिद्ध करती हैं।[1]"

"यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस तरह से तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उस तरह से यद्यपि आज कोई यापनीय टीका उपलब्ध नहीं है किन्तु उसकी यापनीय टीकाएँ भी रही हैं और ये टीकायें भाष्य से परवर्ती होकर भी श्वेताम्बर सिद्धसेनगणि और हरिभद्र की टीकाओं से तथा दिगम्बर पूज्यपाद की टीकाओं से प्राचीन है। क्योंकि इनको उपस्थिति के संकेत सर्वार्थसिद्धि और सिद्धसेन की वृत्ति में उपलब्ध होते है।[2]"

सर्वार्थसिद्धि के माध्यम से ही तत्त्वार्थसूत्र का प्रवेश दिगम्बर परंपरा में हुआ हैं। अतः हम कह सकते हैं कि यापनीय और श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र सीधे उत्तराधिकारी है जबकि दिगम्बरों को यह यापनीयों के द्वारा प्राप्त हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य में जो यापनीय और श्वेताम्बर तथ्य परिलक्षित होते हैं वे वस्तुतः उन दोनों की एक ही पूर्वज परंपरा के कारण हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के यापनीय होने का सबसे महत्त्वपूर्ण जो तर्क दिया जा सकता है वह यह कि उसमें पुरुषवेद, हास्य, रति और सम्यक्त्व मोहनीय को पुण्य प्रकृति कहा गया है, जबकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इन्हें पुण्य-प्रकृति नहीं मानते हैं। सिद्धसेन-गणि ने तो इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है कि "कर्म प्रकृति ग्रन्थ का अनुसरण करने वाले तो ४२ प्रकृतियों को ही पुण्य रूप मानते हैं, उनमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद नहीं हैं। सम्प्रदाय विच्छेद होने के कारण मैं नहीं जानता कि इनमें भाष्यकार का क्या अभिप्राय ही और कर्म प्रकृति ग्रन्थ प्रणेणताओं का क्या अभिप्राय है। चौदह पूर्वधारी है इसकी ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं।[3]" इसके विपरीत भगवती आराधना की

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं० नाथुरामजी प्रेमी, पृ० ५२८

२. वही पृ० ५४१

३. "कर्मप्रकृतिग्रन्थानुसारिणस्तु द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतोः पुण्याः कथयन्ति।....आसां च मध्ये सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदा न सन्त्येवेति। कोऽभिप्रायो भाष्यकृतः को वा कर्मप्रकृतिग्रन्थप्रणयिनामितिसम्प्रदायविच्छेदान्मया तावन्न व्यज्ञायीति। चतुर्दशपूर्वधरादयस्तु संविदते यथावदिति निर्दोषं व्याख्यातम्।"
—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य टीका (सिद्धसेन) ८

विजयोदया टीका में अपराजित ने इन चारों प्रकृतियों को पुण्य रूप माना है।[1] भाष्य में इन चार प्रकृतियों को पुण्य रूप मानना वस्तुतः इस बात सूचक है कि पूर्व में कोई एक परम्परा ऐसी थी, जो इन्हें पुण्यरूप मानती थी। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि यापनीयों ने इस सन्दर्भ में भाष्य की परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु कर्म ग्रन्थों पर बल देने वाली श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं ने उन्हें स्वीकृति नहीं दी। यही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी के बीच उत्तर भारत के जैनों में अनेक ऐसी धारणायें उपस्थित थी, जिनमें से कुछ यापनीय परम्परा में जीवित रही, कुछ श्वेताम्बरों में मान्य रही। वस्तुतः तत्त्वार्थ का काल जैन दर्शन के विकास का काल था। अन्य दृष्टि से उसे दर्शन व्यवस्था का काल भी कहा जाता है। उस काल में उपस्थित अनेक धारणाओं में से कुछ ऐसी भी हैं जो किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं होने से विलुप्त हो गई, जैसे काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानने वाली परम्परा अथवा षट्जीवनिकाय में तीन त्रस और तीन स्थावर मानने वाली परम्परा आदि। उस युग में इनके अस्तित्व के संकेत तो मिलते हैं, किन्तु आगे चलकर ये विलुप्त हो जाती हैं। आज न तो श्वेताम्बर में ऐसा कोई है जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता हो और न कोई ऐसा है जो तीन त्रस और तीन स्थावर को स्वीकार करता हो। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों एवं तत्त्वार्थसूत्र में उनके अस्तित्व की सूचना है। अतः इस समग्र चर्चा से हम इसी निर्णय पर पर पहुँचते है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता उत्तर भारत को उस निर्ग्रन्थ धारा में हुए हैं, जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर (उत्तर भारत की सचेल धारा) और यापनीय (उत्तर भारत की अचेल धारा) परम्परायें विकसित हुई हैं। वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं। हाँ इतना अवश्य है कि वे दक्षिण भारतीय अचेल-धारा से जिसे हम दिगम्बर कहते हैं, सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का काल

इस प्रकार हम देखते हैं कि उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थ जैनधर्म

---

१. सद्वेद्य सम्यक्त्वं रति हास्यपुंवेदाः शुभेः नाम गोत्रे शुभं आयु पुण्यं, एतेभ्यो अन्यानि पापानि।

(भगवती आराधना १६४३ पंक्ति ४)

उद्धृत जैनसाहित्य और इतिहास पं० नाथूराम प्रेमी पृ० ५४३

की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं में से मूलतः किससे सम्बन्धित रहा है, यह प्रश्न विद्वानों के मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। श्वेताम्बर परम्परा के विद्वानों ने मूलग्रन्थ के साथ-साथ उसके भाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन दोनों में उपलब्ध श्वेताम्बर समर्थक तथ्यों के आधार पर उन्हें श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने भाष्य और प्रशमरति के कर्ता को तत्त्वार्थ के कर्ता से भिन्न बताकर तथा मूलग्रन्थ में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं से कुछ भिन्नता दिखाकर उन्हें दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने का प्रयास किया है। जबकि पं० नाथूराम प्रेमी जैसे कुछ तटस्थ विद्वानों ने ग्रन्थ में उपलब्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं से विरुद्ध तथ्यों को उभारकर और यापनीय मान्यताओं से निकटता दिखाकर उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

वस्तुतः ये समस्त प्रयास तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सन्दर्भ में किसी भी निश्चित अवधारणा को बनाने में तब तक सहायक नहीं हो सकते, जब तक कि हम उमास्वाति के काल का और इन तीनों धाराओं के उत्पन्न होने के काल का निश्चय नहीं कर लेते हैं। अतः सबसे पहले हमें यही देखना होगा कि उमास्वाति किस काल के हैं, क्योंकि इसी आधार पर उनकी परम्परा का निर्धारण संभव है। उमास्वाति के काल निर्णय के सन्दर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य का सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणायें अपने स्वरूप-निर्धारण की दिशा में गतिशील थी। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है।[1] तत्त्वार्थसूत्र की परवर्ती

१. देखें सर्वार्थसिद्धि—सं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री; सूत्र १।८ की टीका।

टीकाओं में सर्वप्रथम अकलंक तत्त्वार्थ राजवार्तिक में चौथे अध्याय के अन्त में सप्तभंगी का तथा ९वें अध्याय के प्रारम्भ में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में श्वे० आगमों में समवायांग में जीव-ठाण के नाम से[१] यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम में जीव समास के नाम से[२] और दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों गुणठाण के नाम से[3] इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रन्थ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सही है कि ईसा दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया फिर भी यह निश्चित है कि पाँचवीं शताब्दी में पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्व प्रथम उल्लेख हल्सी के पाँचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है[४]।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई० सन् ३७० एवं ४२१ का है[५] तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, कहीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़िया जी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से

---

१. समवायांग (सं० मधुकर मुनि) १४/९५
२. षट्खण्डागम (सत्प्ररूपणा) १/१/५, ९-२२
३. नियमसार गा० ७७ (लखनऊ, अंग्रेजी अनुवाद सह) और समयसार गा० ५५; उद्धृत गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास—प्रो० सागरमल जैन, तुलसीप्रज्ञा खण्ड १८ अंक १, अप्रैल-जून ९२, पृ० १५-२९
४. जैन शिलालेख संग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला) भाग २, लेख क्रमांक ९८, ९९
५. वही, लेख क्रमांक ९० एवं ९४

मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 1-85 A D. स्वीकार की गई है। प्रो० विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे[1]। उनका ग्रन्थ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के संबंध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यक नियुक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि० सं० ६०९ में हुआ था, किन्तु परम्परा भेद उनके शिष्य कौडिण्य और कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि० सं० ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्वाण विक्रम संवत से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है किन्तु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं[2]। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है[3]। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९–४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष जोड़े तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। क्योंकि, पाँचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

---

१. History of Indian Literature by M. Winternitz, vol. II P-579

२. देखें—जार्ल चार्पेंटियर का लेख—दी डेट ऑफ महावीर, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द जून, जुलाई, अगस्त १९१४

३. देखें—महावीर का निर्वाण काल—डॉ० सागरमल जैन

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परम्परा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागम जैसे ग्रन्थों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और कुछ विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्त्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है।[1] उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वे० पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं० ५८४ माना जाता है, यद्यपि मैं इससे सहमत नहीं हूँ। अतः आर्यशान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलतः आर्यशान्तिश्रेणिक से उच्च नागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक सं० ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अतः उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी के पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं।[2] जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इनपर अंकित सम्वत् शक संवत् हो तो यह काल शक सं० ५ से ८७ के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई० सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं० १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्ति श्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के

---

१. थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिए हिंतो णं माठरसगोत्तेहिंतो एत्थ उच्चनागरी साहानिग्गया। कल्पसूत्रं (कल्पसुत्तं), २१८, प्राकृत भारती जयपुर।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख क्रमांक १९, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४; उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम लेख कनिष्क वर्ष ५ का अन्तिम लेख हुविष्क वासुदेव वर्ष ८७ का है।

काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणी उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चनागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चनागरी और वज्री दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतना शीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवतः समाधि स्थल की सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से ही उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की ही जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद वीर नि० सं० ६०९ में हुआ था। उन दोनों के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बन्ध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उसके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख है[1] जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोट्टीयगण स्थानीय कुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि० सं० २३० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि० सं० ६०९ तदनुसार ६०९ − ४१० = वि० सं० १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है, किन्तु कतिपय परवर्ती रचनाओं में उन्हें आर्य कृष्ण का शिष्य कहा गया है। हालाँकि यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। सम्भावना यह भी है ये दोनों गुरुभाई हों और

---

१. जैनशिलालेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक ८५।

2. The Jain Stupa and other Anti quities of Mathura, Vincent A. Simth,–Indological Bookhouse 1969, p. 24.

उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों।

इन आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक माना जा सकता है। चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारंभ हो गया था, किन्तु स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परंपराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि० सं० की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अर्थात् ई० सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो० मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। यह उचित ही है। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी माने किन्तु इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र संबंधी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं०६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी के उत्तरार्ध और चौथी के पूर्वार्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी संभव है कि वे इस परंपरा भेद में भी कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हो। फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय ओर श्वेताम्बर दोनों ही परंपरा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं।

इस समस्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल वि० सं० की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य है और इस काल तक वस्त्र-पात्र संबंधी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवी शताब्दी के बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही स्पष्ट संप्रदाय भेद और साम्प्रदायिक

मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संप्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ और स्थिर हो रही थी।

वे उस अर्थ में श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं है, जिस अर्थ में आज हम इन शब्दों का अर्थ लेते हैं। वे यापनीय भी नहीं है, क्योंकि यापनीय सम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई० सन् ४७५) का मिलता है। अतः वे श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा की कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं। उनके संबंध में इतना मानना ही पर्याप्त है। उन्हें श्वेताम्वर, दिगंबर या यापनीय सम्प्रदाय से जोड़ना उचित नहीं है।

उमास्वाति का जन्म-स्थल एवं कार्यक्षेत्र

तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-भाष्य की अन्तिम प्रशस्ति में अपने को उच्चैर्नागर शाखा का कहा है तथा अपना जन्म-स्थान न्यग्रोधिका वताया है। अतः उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्ति-स्थल एवं उमास्वाति के जन्म-स्थल का अभिज्ञान (पहचान) करना आवश्यक है। उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख न केवल तत्त्वार्थ-भाष्य[१] में उपलब्ध होता है, अपितु श्वेताम्वर परम्परा में मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली[२] में तथा मथुरा के अभिलेखों[3] में भी उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उच्चैर्नागर शाखा कोटिकगण की एक शाखा थी। मथुरा के २० अभिलेखों में कोटिकगण तथा नौ अभिलेखों में उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख मिलता है। कोटिकगण कोटिवर्ष के निवासी आर्य सुस्थित से निकला था[४]। कोटिवर्ष की पहचान पुरातत्त्वविदों ने उत्तर बंगाल के फ़रीदपुर से की है[५]। इसी कोटिकगण के आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चैर्नागर शाखा के निकलने का उल्लेख है। कल्पसूत्र के गण, कुल और शाखाओं का सम्बन्ध व्यक्तियों या स्थानो (नगरों) से रहा है जैसे—

१. तत्त्वार्थभाष्य अन्तिम-प्रशस्ति, श्लोक सं० ३, ५
२. कल्पसूत्र, स्थविराली २१८
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग–२ लेखक्रमांक, १०, २०, २२, २३, ३१, ३५, ३६, ५०, ६४, ७१
४. कल्पसूत्र स्थविरावली, २१६
५. ऐतिहासिक स्थानावली (ले० विजयेन्द्र कुमार माथुर) पृ० सं० २३१

वारणगण, वारणावर्त से सम्बन्धित था, कोटिकगण कोटिवर्ष से संबंधित था, यद्यपि कुछ गण व्यक्तियों से भी सबन्धित थे। शाखाओं में कौशम्बिया, कोडम्बानी, चन्द्रनागरी, माध्यमिका, सौराष्ट्रिका, उच्चैनगिर आदि शाखाएँ मुख्यतया नगरों से सम्बन्धित रही हैं।

उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म० प्र०)

यहाँ हम उच्चैर्नागर शाखा के सन्दर्भ में ही चर्चा करेंगे। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह उच्चैर्नगर कहाँ स्थित था, जिससे यह शाखा निकली थी। मुनि श्री कल्याणविजय जी और हीरालाल कापड़िया ने कनिंघम को आधार बनाते हुए, इस उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध वर्तमान बुलन्दशहर पूर्वनाम वरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। पं० सुखलाल जी ने भी तत्त्वार्थ की भूमिका में इसी का अनुसरण किया है। कनिंघम लिखते हैं कि "वरण या बारण यह नाम हिन्दू इतिहास में अज्ञात है। 'बरण' के चार सिक्के बुलन्दशहर से प्राप्त हुए हैं। मुसलमान लेखकों ने इसे बरण कहा है। मैं समझता हूँ कि यह वही जगह होगी और इसका नामकरण राजा अहिबरण के नाम के आधार पर हुआ होगा जो कि तोमर वंश से सम्बन्धित था और जिसने यह किला बहुत पुराना है और एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है जिसके आधार पर हिन्दुओं द्वारा यह ऊँचा गाँव या ऊँचा नगर कहा गया है और मुसलमानों ने उसे बुलन्दशहर कहा है।"[१] यद्यपि कनिंघम ने कहीं भी इसका सम्बन्ध उच्चैर्नागर शाखा से नहीं बताया, किन्तु उनके द्वारा बुलन्दशहर का ऊँचानगर के रूप में उल्लेख होने से मुनि कल्याणविजय जी और कापड़िया जी ने तथा बाद में पं० सुखलाल जी ने उच्चैर्नागर शाखा को बुलन्दशहर से जोड़ने का प्रयास किया। प्रो० कापड़िया ने यद्यपि अपना कोई स्पष्ट अभिमत नहीं दिया है। वे लिखते हैं "इस शाखा का नामकरण किसी नगर के आधार पर ही हुआ होगा, किन्तु इसकी पहचान अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि बहुत सारे ऐसे ग्राम और शहर हैं जिनके अन्त में 'नगर' नाम पाया जाता है। वे आगे भी लिखते हैं कि कनिंघम का विश्वास है कि यह ऊँचानगर से सम्बन्धित होगी[२]।" चूँकि कनिंघम ने आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के १४वें खण्ड में बुलन्दशहर का समीकरण ऊँचा नगर से किया था। इसी

1. Archaeological Survey of India. Vol/. 14, p, 47

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (द्वितीय विभाग) प्रस्तावना, हीरालाल कापड़िया, पृ० ६

आधार पर मुनि कल्याणविजय जो ने यह लिख दिया है "ऊँचा नगरी शाखा प्राचीन ऊँचा नगरी से प्रसिद्ध हुई थी। ऊँचा नगरी को आजकल बुलन्दशहर कहते हैं[1]।" इस सम्बन्ध में पं० सुखलाल जो का कथन है—'उच्चैर्नागर' शाखा का प्राकृत नाम 'उच्चानागर' मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो स्पष्ट दीखता है; परन्तु यह ग्राम कौन-सा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागों में 'नगर' नाम से या अन्त में 'नगर' शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'बड़नगर' गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भो होता है। लेकिन गुजरात में बड़नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बड़नगर के साथ ही सम्बन्ध है, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बड़नगर था या नहीं और था तो उसके साथ जैनों का कितना सम्बन्ध था, यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। अतः बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा के सम्बन्ध की कल्पना सबल नहीं रहती। इस विषय में कनिंघम का कहना है "यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ मेल खाता है[2]।"

किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ऊँचानागर शाखा का सम्बन्ध बुलन्दशहर से तभी जोड़ा जा सकता है जब उसका अस्तित्व ई०पू० प्रथम शताब्दी के लगभग रहा हो। मात्र यही नहीं उस काल में वह ऊँचानगर कहलाता भी हो। इस नगर के प्राचोन 'बरण' नाम का उल्लेख तो है, किन्तु यह भो ९-१०वीं शताब्दी से पूर्व का ज्ञात नहीं होता है। बारण (बरण) नाम से कब इसका नाम बुलन्दशहर हुआ, इसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है। यह हिन्दुओं द्वारा ऊँचागाँव या ऊँचानगर कहा जाता था—मुझे तो यह भो उनकी कल्पना सी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में वे कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर

१. पट्टावली पराग संग्रह (मुनि कल्याण विजय), पृ० ३७
२. तत्त्वार्थसूत्र, (विवेचक पं० सुखलाल संघवी), प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० सं० ४

सके हैं। बरन नाम का उल्लेख भी मुस्लिम इतिहासकारों ने दसवीं सदी के बाद ही किया है[१]। इतिहासकारों ने इस ऊँचागाँव किले का सम्बन्ध तोमर वंश के राजा अहिवरण से जोड़ा है, अतः इसकी अवस्थिति ईसा के पाँचवीं-छठीं शती से पूर्व तो सिद्ध ही नहीं होती है। यहाँ से मिले सिक्कों पर 'गोवितसबाराणये' ऐसा उल्लेख है[२]। स्वयं कनिंघम ने भी यह सम्भावना व्यक्त की है कि इन सिक्कों का सम्बन्ध वारणाव या वारणावत से रहा होगा[३]। वारणावर्त का उल्लेख महाभारत में भी है जहाँ पाण्डवों ने हस्तिनापुर से निकलकर विश्राम किया था तथा जहाँ उन्हें जिन्दा जलाने के लिये कौरवों द्वारा लाक्षागृह का निर्माण करवाया गया था[४]। बारणावा (बारणावत) मेरठ से १६ मील और बुलन्दशहर (प्राचीन नाम बरन) से ५० मील की दूरी पर हिंडोन और कृष्णा नदी के संगम पर स्थित है। मेरी दृष्टि में यह वारणावत वहीं है जहाँ से जैनों का 'वारणगण' निकला था। 'वारणगण का उल्लेख भी कल्पसूत्र स्थविरावली एवं मथुरा के अभिलेखों में उपलब्ध होता है[५] अतः बारणाबत (वारणावर्त) का सम्बन्ध वारणगण से हो सकता है न कि उच्चैनगिरो शाखा से, जो कि कोटिगण को शाखा थी। अतः अब हमें इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहिए, कि उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध किसी भी स्थिति में बुलन्दशहर से नहीं हो सकता है।

यह सत्य है कि उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध किसी ऊँचानगर से ही हो सकता है। इस सन्दर्भ में हमने इससे मिलते-जुलते नामों की खोज प्रारंभ की। हमें ऊँचाहार, ऊँचडोह, ऊँचोबस्तो, ऊँचौलिया, ऊँचाना, ऊँच्चेहरा आदि कुछ नाम प्राप्त हुए।[६] हमें इन नामों में ऊँचहार (उ० प्र०) और ऊँचेहरा (म० प्र०) ये दो नाम अधिक निकट प्रतीत हुए। ऊँचाहार की सम्भावना भी इस लिए हमें उचित नहीं लगी

---

१. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० सं० ६०८, ६४०

२. कनिंघम–अर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वाल्यू० १४, पृ० १४७

३. वही,

४. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० सं० ८४३-४४

५. कल्पसूत्र, स्थविरावली, २१२

६. ऊँच्छ नामक अन्य नगरों के लिए देखिए–The Ancient Geography of India (Cunningham) pp. 204-205

कि उसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। अतः हमने ऊँचेहरा को ही अपनी गवेषणा का विषय बनाना उचित समझा। ऊँचेहरा मध्यप्रदेश के सतना जिले में सतना रेडियो स्टेशन से ११ कि०मी० दक्षिण की ओर स्थित है। ऊँचेहरा से ७ कि०मी० उत्तर-पूर्व की ओर भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप स्थित है, इससे इस स्थान की प्राचीनता का भी पता लग जाता है। वर्तमान ऊँचेहरा से लगभग २ कि०मी० की दूरी पर पहाड़ के पठार पर यह प्राचीन नगर स्थित था, इसी से इसका ऊँचानगर नामकरण भी सार्थक सिद्ध होता है। वर्तमान में यह वीरान स्थल 'खोह' कहा जाता है। वहाँ के नगर निवासियों ने मुझे यह भी बताया कि पहले यह उच्चकल्पनगरी कहा जाता था और यहाँ से बहुत सी पुरातात्त्विक सामग्री भी निकली थी। यहाँ से गुप्त काल अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती के राजाओं के कई दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इन ताम्र-दानपत्रों में उच्चकल्प (उच्छकल्प) का स्पष्ट उल्लेख है, ये दानपात्र गुप्त सं० १५६ से गुप्त सं० २०९ के बीच के हैं। (विस्तृत विवरण के लिये देखें ऐतिहासिक स्थानावली—विजयेन्द्र कुमार माथुर, पृ० २६०-२६१)। इससे इस नगर की गुप्तकाल में तो अवस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनः जिस प्रकार विदिशा के समीप सांची का स्तूप निर्मित हुआ है उसी प्रकार इस उच्चैर्नगर (ऊँचहेरा) के समीप भरहुत का स्तूप निर्मित हुआ था और यह स्तूप ई० पू० दूसरी या प्रथम शती का है। इतिहासकारों ने इसे शुंग काल का माना है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरण पर 'वाच्छिपुत्त धनभूति का उल्लेख है।[1] पुनः अभिलेखों में 'सुगनं रजे' ऐसा उल्लेख होने से शुंग काल में इसका होना सुनिश्चित है।[2] अतः उच्चैर्नागर शाखा का स्थापना काल (लगभग ई० पू० प्रथम शती) और इस नगर का सत्ताकाल समान ही है। अतः इसे उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल मानने में काल दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। ऊँचेहरा (उच्चकल्पनगर) एक प्राचीन नगर था, इसमें अब कोई संदेह नहीं रह जाता है। यह नगर वैशाली या पाटलिपुत्र से वाराणसी होकर भरुकच्छ को जाने वाले अथवा श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर विदिशा, उज्जयिनी और भरुकच्छ जाने वाले मार्ग में स्थित है। इसी

१. भरहुत (डॉ० रमानाथ मिश्र), प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, (म० प्र०) भूमिका पृ० १८
२. वही, पृ० १८-१९

प्रकार वैशाली-पाटलिपुत्र से पद्मावती (पँवाया), गोपाद्रि (ग्वालियर) होते हुए मथुरा जाने वाले मार्ग पर भी इसकी अवस्थिति थी। उस समय पाटलीपुत्र से गंगा और यमुना के दक्षिण से होकर जाने वाला मार्ग ही अधिक प्रचलित था, क्योंकि इसमें बड़ी नदियाँ नहीं आती थीं, मार्ग पहाड़ी होने से कीचड़ आदि भी अधिक नहीं होता था। जैन साधु प्रायः यही मार्ग अपनाते थे।

प्राचीन यात्रा मार्गों के अधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँचानगर की अवस्थिति एक प्रमुख केन्द्र के रूप में थी। यहाँ से कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी आदि के मार्ग थे। पाटलिपुत्र को गंगा-यमुना आदि बड़ी नदियों को बिना पार किये जो प्राचीन स्थल मार्ग था, उसके केन्द्र-नगर के रूप में उच्चकल्प नगर (ऊचँचानगर) की स्थिति सिद्ध होती है। यह एक ऐसा मार्ग था, जिसमें कहीं भी कोई बड़ी नदी नहीं आती थी। अतः सार्थ निरापद समझकर इसे ही अपनाते थे। प्राचीन काल से आज तक यह नगर धातुओं के मिश्रण के बर्तनों हेतु प्रसिद्ध रहा है। आज भी वहाँ कांसे के बर्तन सर्वाधिक मात्रा में बनते हैं। ऊँचेहरा का उच्चैर् शब्द से जो ध्वनि-साम्य है वह भी हमें इसी निष्कर्ष के लिए बाध्य करता है कि उच्चैर्नागर शाखा की उत्पत्ति इसी क्षेत्र से हुई थी।

उमास्वाति का जन्म स्थान नागोद (म० प्र०)

उमास्वाति ने अपना जन्म स्थान न्यग्रोधिका बताया है। इस संबंध में भी विद्वानों ने अनेक प्रकार के अनुमान किये हैं। चूंकि उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की रचना कुसुमपुर (पटना) में की थी।[1] अतः अधिकांश लोगों ने उमास्वाति के जन्मस्थल को पहचान उसी क्षेत्र में करने का प्रयास किया है। न्यग्रोध को वट भी कहा जाता है। इस आधार पर पहाड़पुर के निकट बटगोहली, जहाँ से पंचस्तूपान्वय का एक ताम्र-लेख मिला है, से भी इसका समीकरण करने का प्रयास किया है। मेरी दृष्टि में ये धारणाएँ समुचित नहीं हैं। उच्चैर्नागर शाखा, ऊँचेहरा से सम्बन्धित थी, उसमें उमास्वाति के दीक्षित होने का अर्थ यही है कि वे उसके उत्पत्ति स्थल के निकट ही कहीं जन्मे होंगे। उच्चैर्नागर या ऊँचेहरा से मथुरा जहाँ उच्चनागरी शाखा के अधिकतम उल्लेख प्राप्त हुए हैं तथा पटना जहाँ उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य की रचना की, दोनों ही लगभग समान दूरी पर अवस्थित रहे हैं। वहाँ से दोनों लगभग ३५० कि० मी०

१. तत्त्वार्थसूत्र, भूमिका (पं० सुखलालजी), पृ० ५

की दूरी पर अवस्थित हैं और किसी जैन साधु के द्वारा यहाँ से एक माह की पदयात्रा कर दोनों स्थलों पर आसानी से पहुंचा जा सकता था। स्वयं उमास्वाति ने ही लिखा है कि वे विहार (पदयात्रा) करते हुए कुसुमपुर (पटना) पहुँचे थे (विहरतापुरवरेकुसुमनाम्नि)।[1] इससे यही लगता है कि न्यग्रोध, (नागोद) कुसुमपुर (पटना) के बहुत समीप नहीं था। डॉ० हीरालाल जैन ने संघ विभाजन स्थल रहवीरपुर की पहचान दक्षिण में महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले के राहुरी ग्राम से और उमास्वाति के जन्मस्थल को पहचान उसी के समीप स्थित 'निधोज' से की, किन्तु यह ठीक नहीं है।[2] प्रथम तो व्याकरण की दृष्टि से न्यग्रोध का प्राकृत रूप नागोद होता है, निधोज नहीं। दूसरे उमास्वाति जिस उच्चैर्नागर शाखा के थे, वह शाखा उत्तर भारत की थी, अतः उनका सम्बन्ध उत्तर भारत से ही है। अतः उनका जन्म स्थल भी उत्तर भारत में ही होगा। उच्चानगरी शाखा के उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा से लगभग ३० कि० मी० पश्चिम की ओर 'नागोद' नाम का कस्बा आज भी है। आजादी के पूर्व यह एक स्वतन्त्र राज्य था और ऊँचेहरा इसी राज्य के अधीन आता था। नागोद के आस-पास भी जो प्राचीन सामग्री मिली है उससे यही सिद्ध होता है कि यह भी एक प्राचीन नगर था। प्रो० के० डी० बाजपेयी ने नागोद से २४ कि० मी० दूर नचना के पुरातात्त्विक महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[3] नागोद को अवस्थिति पन्ना (म० प्र०), नचना और ऊँचेहरा के मध्य है। इस क्षेत्रों में शुंगकाल से लेकर ९वीं-१०वीं शती तक की पुरातात्त्विक सामग्री मिलती है, अतः इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। नागोद न्यग्रोध का ही प्राकृत रूप है, अतः सम्भावना यही है कि उमास्वाति का जन्म स्थल यही नागोद था और जिस उच्चनागरी शाखा में वे दीक्षित

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञ भाष्य, अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक सं० ३
२. दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्शन, प्रका० दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई, दिगम्बर १९४४ में मुद्रित 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' नामक प्रो० हीरालाल जैन का लेख, पृ० ७
३. संस्कृति संन्धान (सम्पा० डॉ० झिनकू यादव) प्रका० राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध संस्थान, वाराणसी वाल्यूम III, १९९० में मुद्रित 'बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक धरोहर,: नचना नामक प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का लेख, पृ० ३१

हुए थें, वह भी उसी के समीप स्थित ऊँचेहरा (उच्चकल्प नगर) से उत्पन्न हुई थी। तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति की माता को वात्सी कहा गया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बर्तमान नागोद और ऊँचेहरा दोनों ही प्राचीन वत्स देश के अधीन ही थे। भरहुत और इस क्षेत्र के आस-पास जो कला का विकास देखा जाता है, वह कौशाम्बो अर्थात् वत्सदेश के राजाओं के द्वारा ही किया गया था। ऊँचेहरा वत्सदेश के दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था। भरहुत के स्तूप के निर्माण में भी वात्सी गोत्र के लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान था, ऐसा वहाँ से प्राप्त अभिलेखों से प्रमाणित होता है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार पर वाच्छीपुत्त धनभूति का उल्लेख है।[1] अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का जन्मस्थल नागोद मध्य प्रदेश (न्यग्रोध) और उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊंचेहरा (म० प्र०) ही है। तथा उन्होंने वर्तमान पटना (कुसुमपुर) में अपना तत्त्वार्थ भाष्य लिखा था अतः वे उत्तर भारत के निग्रंथ संघ में हुए हैं।

उपसंहार

तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के पश्चात् मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, वे निम्न हैं—

१. जहाँ तक ग्रन्थ के नाम का प्रश्न है चाहे हम उसे तत्त्वार्थसूत्र माने या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र माने, इससे उसकी परम्परा के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती है। यदि पं० फूलचन्दजी शास्त्री के अनुसार एक बार यह भी मान लिया जाय कि तत्त्वार्थाधिगमसूत्र यह नाम भाष्य का है मूलसूत्र का नहीं, तो भी इससे उसके स्वरूप और परम्परा में कोई अन्तर नहीं आता है। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्र के दोनों परम्परा में ये दोनों और दूसरे अनेक नाम प्रचलित रहे हैं। अतः ग्रन्थ नाम का विवाद सार्थक नहीं हैं।

२. जहाँ तक तत्त्वार्थ के कर्ता के नाम का प्रश्न है वह उमास्वाति ही है। गृध्रपिच्छ या वाचक उमास्वाति के विशेषण हो सकते हैं, किन्तु उनके नाम नहीं। उनके नाम के साथ गृध्रपिच्छ विशेषण होने से ही न तो वे दिगम्बर या यापनीय सिद्ध होते हैं और न वाचक विशेषण होने से श्वेताम्बर सिद्ध होते हैं। फिर भी विद्वानों ने ऐसी अवधारणा बनाई है। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही विशेषण उत्तर भारत की अविभक्त उस निर्ग्रन्थधारा

१. भरहुत, भूमिका पृ० सं० १८

में दिये जाना संभव है, जिससे एक ओर यापनीय परम्परा का और दूसरी ओर श्वेताम्बर परम्परा का विकास हुआ। वाचक विशेषण के प्रमाण तो नन्दिसूत्र स्थविराली में मिलते ही हैं। क्योंकि इस कालतक उत्तर भारत के मुनि ऊनी रजोहरण के स्थान पर पिच्छि (प्रतिलेखन) रखते थे, अतः गृध्रपिच्छ विशेषण से भी उन्हें उत्तर भारत की निर्ग्रन्थधारा का मानने से कोई बाधा नहीं आती है।

३. काल की दृष्टि से उमास्वति ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के पश्चात् और चतुर्थ शताब्दी के पूर्व हुए हैं। प्रो॰ ढाकी के द्वारा उनका काल ईस्वी सन् ३७५-४०० माना गया है। उनके इस काल के आधार पर उन्हें न तो श्वेताम्बर, न दिगम्बर और न यापनीय ही कहा जा सकता है। वस्तुतः वे उस काल में हुए हैं जब उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में आचार एवं विचार सम्बन्धी अनेक मतभेद अस्तित्व में आ गये थे, किन्तु उस युग तक साम्प्रदायिक ध्रुवोकरण होकर श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं का जन्म नहीं हुआ था। हमें पाँचवीं शताब्दी के पूर्व न तो अभिलेखों में और न साहित्यिक स्रोतों में ऐसे कोई संकेत मिलते हैं, जिसके आधार पर यह माना जा सके कि उस काल तक श्वेताम्बर (श्वेतपट्ट) दिगम्बर या यापनीय ऐसे नाम अस्तित्व में आ गये थे। यद्यपि वस्त्र पात्रादि को लेकर विवाद का प्रादुर्भाव हो चुका था, किन्तु संघ स्पष्ट रूप से खेमों में विभाजित होकर श्वेताम्बर, यापनोय और दिगम्बर ऐसे नामों से अभिहित नहीं हुआ था। उस काल तक मान्यता भेद और आचारभेद को लेकर विभिन्न गण, कुल और शाखाएँ तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती थीं, किन्तु सम्प्रदाय नहीं बने थे। अतः काल की दृष्टि से उमास्वाति न तो श्वेताम्बर थे और न यापनीय ही थे, अपितु वे उस पूर्वज धारा के प्रतिनिधि हैं जिससे ये दोनों परम्पराएँ विकसित हुई है। हाँ इतना अवश्य है कि दक्षिण भारत की अचेल धारा जो आगे चलकर दिगम्बर नाम से जानी गई, उससे वे सीधे रूप में सम्बन्धित नहीं थे।

४. यह सत्य है कि तत्त्वार्थसूत्र की कुछ मान्यताएँ श्वेताम्बर आगमों के औरकुछ मान्यताएँ दिगम्बरमान्य आगमों के विरोध में जाती हैं। यह भी सत्य है कि उनको कुछ मान्यताएँ यापनीय ग्रन्थों में यथावत् रूप में पायी जातो हैं, किन्तु इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि वे श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्परा के थे। जैसा कि हमने पूर्व में

संकेत किया है—उमास्वाति उस काल में हुए हैं जब वैचारिक एवं आचारगत मतभेदों के होते हुए भी साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण नहीं हुआ था। इसी का यह परिणाम है कि उनके ग्रन्थों में कुछ तथ्य श्वेताम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल, कुछ तथ्य दिगम्बरों के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल तथा कुछ तथ्य यापनीयों के अनुकूल एवं कुछ उनके प्रतिकूल पाये जाते हैं। वस्तुतः उनकी जो भी मान्यताएँ हैं, उच्चनागर शाखा की मान्यताएँ हैं। अतः मान्यताओं के आधार पर वे कोटिकगण की उच्चनागर शाखा के थे। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय मान लेना संभव नहीं है।

५. उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के आधार के रूप में जहाँ श्वेताम्बर विद्वान् श्वेताम्बर मान्य आगमों को प्रस्तुत करते हैं, वहीं दिगम्बर विद्वान् षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का तत्त्वार्थसूत्र का आधार बताते हैं। किन्तु ये दोनों ही मान्यताएँ भ्रांत हैं, क्योंकि उमास्वाति के काल तक न तो षट्खण्डागम और न कुन्दकुन्द के ग्रन्थ अस्तित्व में आये थे और न श्वेताम्बर मान्य आगमों की वलभी वाचना ही हो पायी थी। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थ जिनमें गुणस्थान सिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध है, तत्त्वार्थ के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते हैं। गुणस्थान सिद्धान्त और सप्तभंगी की अवधारणाएँ जो तत्त्वार्थ में अनुपस्थित हैं वे लगभग पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आयीं। अतः उनसे युक्त ग्रन्थ तत्त्वार्थ के आधार नहीं हो सकते हैं। वलभी की वाचना भी विक्रम की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही सम्पन्न हुई है अतः वलभी वाचना में सम्पादित आगम-पाठ भी तत्त्वार्थसूत्र का आधार नहीं माने जा सकते हैं, किन्तु यह मानना भी भ्रांत होगा, कि तत्त्वार्थ का आधार आगम ग्रन्थ नहीं थे। वलभी वाचना में आगमों का संकलन एवं सम्पादन तो हुआ तथा उन्हें लिपि बद्ध भी किया गया। किन्तु उसके पूर्व उन आगम ग्रन्थों का अस्तित्व तो था ही, क्योंकि वलभी में कोई नये आगम नहीं बने थे। उमास्वाति के सम्मुख जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे न तो देवर्धि की वलभी (वीर० सं० ९८०) के थे और न स्कन्दिल की माथुरी वाचना वीर नि० सं० ८४० के थे, अपितु उसके पूर्व की आर्यरक्षित की वाचना के थे। यही कारण है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र की अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं वलभी वाचना से भिन्नता परिलक्षित होती हैं। ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में जो आगम ग्रन्थ उपस्थित थे, वे ही उमास्वाति

के तत्त्वार्थसूत्र का उपजीव्य बने है। साथ ही यह भी सत्य है कि उन प्राचीन आगमों का माथुरी और वलभी वाचनाओं में संकलन एवं सम्पादन हुआ है, नव-निर्माण नहीं, अतः यह मानना भी बिल्कुल गलत होगा कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति के सम्मुख जो आगम उपस्थित थे, वे वर्तमान श्वेताम्बर मान्य आगमों से बिल्कुल ही भिन्न थे। वे मात्र इनका पूर्व संस्करण थे।

६. तत्त्वार्थ के भाष्यमान्य और सर्वार्थसिद्धिमान्य ऐसे दो पाठ प्रचलित हैं। इनमें कौन-सा पाठ प्राचीन और मौलिक है तथा कौन-सा विकसित है? यह विषय विवादास्पद रहा है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ भाषा, व्याकरण और विषयवस्तु तीनों की दृष्टि से अपेक्षाकृत शुद्ध, व्याकरण सम्मत और विकसित है, वहीं भाष्यमान्य मूलपाठ उसकी अपेक्षा भाषायी दृष्टि से पूर्ववर्ती और कम विकसित प्रतीत होता है। अतः भाष्यमान्यपाठ की प्राचीनता सुस्पष्ट है। सुजिका ओहिरो आदि विदेशी विद्वानों का भी यही मन्तव्य है।

७. इसी से सम्बद्ध ही एक प्रश्न यह उठता है कि इस पाठ परिवर्तन का उत्तरदायी कौन है? सामान्यतया श्वेताम्बर विद्वानों की यह मान्यता रही है कि यह पाठ परिवर्तन दिगम्बर आचार्यों के द्वारा किया गया, किन्तु पूर्व चर्चा में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भाष्यमान्यपाठ का संशोधन करके जो सर्वार्थसिद्धिमान्यपाठ निर्धारित हुआ है, उस परिवर्तन का दायित्व दिगम्बर आचार्यों पर नहीं जाता है। यदि पूज्यपाद देवनन्दी ने ही इस पाठ का संशोधन किया होता तो वे 'एकादश जिने' आदि उन सूत्रों को निकाल देते या संशोधित कर देते जो दिगम्बर परम्परा के पक्ष में नहीं जाते हैं। इस सम्बन्ध में मेरा निष्कर्ष यह है कि सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ किसी यापनीय आचार्य द्वारा संशोधित है। पूज्यपाद देवनन्दी को जिस रूप में उपलब्ध हुआ है उन्होंने उसी रूप में उसकी टीका लिखी है। पुनः यह संशोधित पाठ भी स्वयं तत्त्वार्थभाष्य पर आधारित है। इसमें अनेक भाष्य के वाक्य या वाक्यांश सूत्र के रूप में ग्रहीत कर लिए गये हैं। जहाँ तक भाष्यमान्य पाठ का प्रश्न है, वही तत्त्वार्थसूत्र का मूल पाठ रहा है और श्वेताम्बर आचार्यों ने भी कोई पाठ संशोधन नहीं किया है— सिद्धसेन गणि को वह पाठ जिस रूप में उपलब्ध हुआ है, उन्होंने उसे वैसा ही रखा है यदि वे उसे संशोधित करते या सर्वार्थसिद्धि के पाठ के आधार

पर उसे अपनी परम्परानुसार नया रूप देते, तो फिर मूल एवं भाष्य में जिन मूल भेदों की चर्चा वे करते हैं, वह सम्भव ही नहीं होती, अतः पाठ संशोधन न तो दिगम्बरों ने किया है और न श्वेताम्बरों ने। उसका उत्तरदायित्व तो यापनीय आचार्यों पर जाता है।

८. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की स्वोपज्ञता भी एक विवाद का विषय रही है। इस सन्दर्भ में समस्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है। भाष्य तत्त्वार्थसूत्र की अन्य टीकाओं की अपेक्षा अविकसित है उसमें गुणस्थान, स्याद्वाद, सप्तभंगी जैसे विषयों का स्पष्ट अभाव है। पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी उसकी स्वोपज्ञता स्वीकार किया है, अतः भाष्य की स्वोपज्ञता निर्विवाद है।

९. भाष्य में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धो उल्लेख है, वे वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के पोषक न होकर उस स्थिति के सूचक है, जो ई० सन् की दूसरी-तीसरी शती में उत्तरभारत के निर्ग्रन्थ संघ की थी और जिनका अंकन मथुरा की मुनि प्रतिमाओं में भी हुआ है। मथुरा के इस काल के अंकनो में मुनि नग्न है, किन्तु उसके हाथ में कम्बल और मुखवस्त्रिका है। कुछ मुनि नग्न होकर भी पात्र युक्त झोली हाथ में लिए हुए हैं, तो कुछ झोली रहित मात्र पात्र लिए हुए हैं। यह सब उस संक्रमण काल का सूचक है जिसके कारण विवाद हुआ और फलतः श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा (उत्तरभारत की अचेल धारा) का विकास हुआ।

भाष्य में मुनि वस्त्र के लिए चीवर शब्द का प्रयोग हुआ। कल्पसूत्र में भी महावीर जिस एक वस्त्र को लेकर दीक्षित हुए और एक वर्ष और एक माह पश्चात् जिसका परित्याग कर दिया था—उसे चीवर कहा गया है। जिस प्रकार महावीर लगभग एक वर्ष तक एक वस्त्र को रखते हुए भी नग्न रहे। यही स्थिति उमास्वाति के काल के सचेल निर्ग्रन्थ श्रमणों की है—वे सचेल होकर भी नग्न है। पाली त्रिपिटिक में निर्ग्रन्थों को जो एक शाटक कहा गया है, वह स्थिति भी तत्त्वार्थ भाष्य के काल तक उत्तर भारत में यथावत चल रही जी। मथुरा में एक ओर वस्त्र धारण किये एक भी मुनि प्रतिमा नहीं मिली, तो दूसरी और पूर्णतः निर्वस्त्र प्रतिमा भी नहीं मिली है। क्योंकि उनके गण, कुल, शाखायें श्वेताम्बर मान्य कल्पसूत्र के अनुसार है। अतः वे श्वेताम्बरों के पूर्वज आचार्य हैं, इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता है।

१०. उमास्वाति को यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम आदि का अनुसरण-कर्त्ता मानकर यापनीय कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यापनीय परम्परा पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् ही अस्तित्व में आई है और षट्खण्डागम आदि में गुणस्थान सिद्धान्त का विस्तृत विवरण होने से वे तत्त्वार्थसूत्र से पर-वर्ती है। वस्तुतः उमास्वाति श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही धाराओं की पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा की उच्चनागर शाखा में हुए हैं। यह सम्भव है कि वे सचेल पक्ष के समर्थक रहे हों, किन्तु इस आधार पर उन्हें श्वेताम्बर नहीं कहा जा सकता। अपवाद रूप में सचेलता तो यापनीयों को भी मान्य थी। हम देखते हैं कि मथुरा के शिल्प में मुनियों की मूर्तियों के जो अंकन हैं उसमें वे सचेल और सपात्र होकर भी नग्न हैं। इन मूर्तियों के अंकन का काल और उमास्वाति का काल एक ही है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चाहे उपस्वाति को अपवाद मार्ग में मुनि के द्वारा वस्त्र और पात्र ग्रहण करने के विरोधी भले न हो किन्तु वे उस अर्थ में सचेलता के समर्थक भी नहीं हैं जिस अर्थ में आज श्वेताम्बर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं।

११. वे श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के पूर्वज हैं। यद्यपि इतना निश्चित है कि वे दक्षिण भारत की प्राचीन निर्ग्रंथ धारा से सीधे सम्बद्ध नहीं थे, क्योंकि वे उत्तर भारत में हुए हैं। उनका जन्म-स्थान न्यग्रोधिका और उनकी उच्चनागरशाखा का उत्पत्ति स्थल उच्च-कल्पनगर आज भी उत्तर-पूर्व मध्यप्रदेश में सतना के निकट नागोद और ऊँचेहरा के नाम से अवस्थित हैं। उनका विहार-क्षेत्र भी मुख्य रूप से पटना से मथुरा तक रहा है। इस सबसे यही फलित होता है कि वे दक्षिण भारत की अचेल धारा से सम्बद्ध न होकर उत्तर भारत की उस धारा से सम्बद्ध रहे हैं जिससे आगे चलकर श्वेताम्बर और यापनीय दोनों परम्पराओं का विकास हुआ है। दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा जो आगे चलकर दिगम्बर नाम से अभिहित हुई, उनसे यापनीयों के माध्यम से ही परिचित हुई है।

●

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jaina Philosophy — Dr. Nathmal Tatia 100.00
2. Jaina Temples of Western India — Dr. Harihar Singh 200.00
3. Political History of Northern India From Jaina Sources — Dr. G. C. Choudhary 80.00
4. Concept of Matter in Jaina Philosophy — Dr. J. C. Sikdar 150.00
5. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar 150.00
6. Jaina Perspective in Philosophy and Religion — Dr. Ramjee Singh 100.00
7. Aspects of Jainology, Vol. II (Pt. Bechardas Commemoration Volume). 250.00
8. Aspects of Jainology, Vol. III (Pt. Malvania Feliciation Volume) 250.00
9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सात खण्ड) 560.00
10. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (दो खण्ड) 340.00
11. जैन प्रतिमा विज्ञान — डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी 120.00
12. वज्जालग्ग (हिन्दी अनुवाद सहित) — विश्वनाथ पाठक 80.00
13. धर्म का मर्म — प्रो० सागरमल जैन 20.00
14. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ — डॉ० अरुण प्रताप सिंह 70.00
15. प्राकृत-हिन्दी कोश — सम्पादक : डॉ० के० आर० चन्द्र 120.00
16. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ० फूलचन्द्र जैन 80.00
17. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा — प्रो० सागरमल जैन 20.00
18. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय — डॉ० भिखारी राम यादव 70.00
19. ऋषिभाषित : एक अध्ययन (हिन्दी एवं अंग्रेजी) — प्रो० सागरमल जैन 30.00
20. अनेकान्त, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी — प्रो० सागरमल जैन 10.00
21. जैन-धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ — डॉ० हीराबाई बोरदिया 50.00
22. मध्यकालीन राजस्थान में जैन-धर्म — डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन 160.00
23. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास — डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र 100,00
24. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन — डॉ० शिवप्रसाद 100.00
25. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श — भगवती प्रसाद खेतान 60.00

पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी – ५